UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186450

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H510.9/D23H. Accession No. H2855.

Author दत्त विभूतिभूषण, सिंह

Title हिंदी गद्य साहित्य का इतिहास

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दू गणित-शास्त्र का इतिहास

हिन्दी परामर्श समिति ग्रन्थमाला—३

हिन्दू गणित-शास्त्र का इतिहास

भाग १

अंक-संकेत और अंकगणित

लेखक

डा० विभूतिभूषण दत्त, डी० एस-सी०

डा० अवधेश नारायण सिंह, डी० एस-सी०

अनुवादक

डा० कृपाशंकर शुक्ल, डी० लिट्०

प्रकाशन ब्यूरो

उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

सर्वोदय साहित्य मंदिर,

कोठी, (बसस्टेण्ड,) हैदराबाद ४.

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य—तीन रुपये

मुद्रक
पी. एल. यादव, इंडियन प्रेस, लि., प्रयाग

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रंथ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रंथों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा-विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रंथों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब उसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंचवर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों में दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही

ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भंडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः

(ऋग्वेद, १०. १४. २५)

ऋषियों को, पूर्वजों को, पूर्ववर्ती पथप्रदर्शकों को नमस्कार है

लेखकों का प्राक्कथन

गणित के इतिहासकार अभी इस बात से अनभिज्ञ है कि प्राचीन काल के हिन्दू गणितज्ञों ने गणित के क्षेत्र में कहाँ तक उन्नति कर ली थी तथा हम उनके कितने ऋणी है। यद्यपि अब सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि अंक-संकेत-सम्बन्धी स्थान-मान सिद्धान्त का आविष्कार हिन्दुओ ने किया था और उन्होंने ही पहले पहल इसका प्रयोग किया था, तथापि इस बात का पूर्णतया अनुभव नही किया जाता कि अपने गणित के लिए हम उनके कितने ऋणी है। इसका कारण हिन्दू गणित के इतिहास का अभाव है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना का उद्देश्य प्राचीनतम ज्ञात काल से लेकर सत्रहवी शताब्दी पर्यन्त भारतीय गणित-शास्त्र की क्रमिक उन्नति का विस्तृत विवरण उपस्थित करके इस अभाव की पूर्ति करना है।

विषय का विवेचन प्रकरणों के अनुसार किया गया है। प्रत्येक प्रकरण के अन्तर्गत संस्कृत में लिखे हुए हिन्दू गणित के ग्रंथों मे उपलब्ध प्रासंगिक उद्धरणों के अनुवादों का कालक्रमानुसार संग्रह किया गया है। आवश्यकता पड़ने पर व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ देकर तथा संस्कृत ग्रंथों में दिये गये उदाहरणों को प्रस्तुत करके उनका स्पष्टीकरण भी किया गया है। अपने उद्देश्य की संगति को ध्यान में रखते हुए जहाँ तक हो सका है पुनरुक्ति से बचने का प्रयत्न किया गया है। तथापि भारतवर्ष में गणितीय विचारधारा एवं पारिभाषिक शब्दावली की अविच्छिन्नता, विशेषकर उसके क्रमिक विकास, पर बल देने के हेतु अनेक अवसरों पर एक ही नियम की पुनरावृत्ति भिन्न-भिन्न लेखकों के शब्दों में की गयी है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से हमें कुछ ऐसे श्लोकों और पारिभाषिक शब्दों के पूर्ण भावों पर प्रकाश डालने में सहायता मिली है, जिनके अर्थ अब तक समझ में नहीं आ सके थे। संस्कृत के उद्धरणों का अनुवाद

करने मे हमने यथासंभव शाब्दिक तथा मूलानुगामी होने का प्रयत्न किया है और इस बात का ध्यान रखा है कि ऐसा करने मे मूल की आत्मा का हनन न हो।

पुस्तक की उपर्युक्त अधियोजना को ग्रहण करने मे हमारा ध्येय यह रहा है कि हम उन लोगो के समक्ष, जिनके लिए सस्कृत के स्रोत अगम्य है, प्रतिकूल और अनुकूल सभी प्रमाणों को उपस्थित करें ताकि वे हिन्दू गणित के अधिकारों के विषय में केवल हमारे कथनमात्र पर ही निर्भर न रहकर स्वयं अपना निर्णय कर सकें। अन्य देशो मे की गयी गणित की उन्नति के साथ तुलना करने की सुविधा के लिए विभिन्न विषयो के विवेचन का वही क्रम रखा गया है जो प्रोफेसर डी० ई० स्मिथ कृत हिस्ट्री ऑव मैथेमेटिक्स मे मिलता है। ऐसा करने में कभी-कभी हिन्दू गणित के ग्रंथों में उपलब्ध क्रम को बदलना भी पडा है।

पुस्तक के लिए सामग्री एकत्र करने मे हमे हिन्दुओ के विस्तृत साहित्य—गाणितिक और अगाणितिक, संस्कृत तथा प्राकृत (पाली और अर्धमागधी)—का परीक्षण करना पडा है। गणित से सम्बन्ध रखनेवाले हिन्दू ग्रथो मे से बहुत ही कम अब तक मुद्रित हुए है और जो मुद्रित भी हुए है वे भी सामान्य रूप से ज्ञात नही है। हस्तलिखित पुस्तके तो, जो भारतवर्ष तथा यूरोप के पुस्तकालयो में उपलब्ध है, और भी कम ज्ञात है। इस प्रकार के अधिकाधिक ग्रथो का सग्रह करने मे हम लोगो ने कोई कसर उठा नही रखी है। सस्कृत के गाणितिक ग्रथो का, जिनकी चर्चा पुस्तक के अन्त में दी हुई ग्रथानुक्रमणिका मे की गयी है, विशेषरूप से अध्ययन किया गया है। मद्रास, बगलौर, त्रिवेद्रम, त्रिप्पुनित्थुरा, और बनारस में स्थित पुस्तकालयो तथा इडिया आफिस (लन्दन) और एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल (कलकत्ता) के पुस्तकालयो के अधिकारियो के हम कृतज्ञ है, जिन्होने हस्तलिपियो की प्रतिलिपियाँ भेजकर अथवा हस्तलिपियो को ही हमारे अध्ययनार्थ कुछ समय के लिए भेजकर हमारी सहायता की है। डाक्टर आर० पी० पराजपे के भी हम कृतज्ञ है जिन्होने भारतवर्ष के राजकीय पुस्तकालयो तथा इडिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय से हस्तलिपियो अथवा उनकी प्रतिलिपियो को प्राप्त करने में हमे सहायता प्रदान की है।

पूर्वगामी लेखको द्वारा किये गये प्रारम्भिक कार्य के बिना हमारा अध्ययन प्रस्तुत रूप मे सभव न था। ऐसे लेखकों में दिवगत पडित सुधाकर द्विवेदी (बनारस) का नाम अग्रगण्य है, जिनके द्वारा संपादित लीलावती, ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, त्रिशतिका, महासिद्धान्त, सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक, इत्यादि ग्रंथो के संस्करणो

से हमे अत्यधिक सहायता मिली है। कोलब्रुक महोदय के ब्रह्मगुप्त और भास्कर द्वितीय कृत पाटीगणित एव बीजगणित के अनुवाद, कर्न महोदय द्वारा सपादित आर्यभटीय, रगाचार्य द्वारा सपादित और अनुवादित महावीर कृत गणित-सार-संग्रह से भी हमे बहुत सहायता मिली है। तथापि जी० आर० के की हाल की कृति अत्यन्त अविश्वसनीय सिद्ध हुई है। उनका आर्यभटीय के गणितपाद का अनुवाद, और बक्षाली हस्तलिपि का सस्करण अशुद्धियो से ओत-प्रोत है तथा भ्रामक है।

पुस्तक को तीन भागो मे प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। प्रथम भाग अक-सकेत तथा अकगणित के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। द्वितीय भाग बीजगणित पर है, जिसमे पूर्वकालीन हिन्दुओ ने असाधारण उन्नति की थी। तृतीय भाग मे क्षेत्रगणित, त्रिकोणमिति कलन तथा कुछ अन्य विषयो, जैसे भद्र (मैजिक स्क्वायर) श्रेढी, क्रमचय और सचय, का इतिहास सग्रहीत है। प्रत्येक भाग अपने-अपने विषय मे पूर्ण है, अतएव विषय-विशेष मे रुचि रखनेवाले व्यक्ति को सब भागो को पढने की आवश्यकता नही है।

प्रथम भाग मे, जो प्रकाशित किया जा रहा है, दो अध्याय है। अध्याय १ में उन सब विधियो का वर्णन है जिन्हे हिन्दू लोग अको को सूचित करने के लिए प्रयोग मे लाते थे। अक-सकेत के दशमलव स्थान-मान पद्धति के क्रमिक विकास का अनुरेखण किया गया है तथा भारतवर्ष मे इस सिद्धान्त के प्रयोग से सम्बन्ध रखनेवाले सब प्रमाण प्रथम बार एकत्र किये गये है। इन प्रमाणो से विदित होता है कि यह पद्धति (यदि और पहले नही तो) ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों मे भारतवर्ष में अवश्य प्रचलित थी। हमे आशा है कि जिन तथ्यो का इस अध्याय मे समावेश किया गया है उनसे इस पद्धति के उद्भव-स्थान-सम्बन्धी मतभेदो का सदैव के लिए अन्त हो जायगा। स्थानाभाव के कारण अरब, उत्तरी अफ्रीका, और यूरोप मे हिन्दू अको के प्रचार का विस्तृत वर्णन नही किया जा रहा है। तो भी सक्षेप मे वर्णन कर दिया गया है।

अध्याय २ का विषय अकगणित है। हम लोग जोडना, घटाना, गुणा, भाग, मूल निकालना, इत्यादि गणित के मौलिक परिकर्म करने मे इतने अभ्यस्त हो गये है कि इस बात का विचार ही नही करते कि इन नियमो का आविष्कार कब हुआ था। परन्तु गणित के अध्यापको तथा इतिहासकारो के लिए यह

विषय बड़े महत्त्व का है। और जिस देश में इन नियमों का उद्भव हुआ है वहाँ तो इनके विकास का वर्णन अवश्य ही स्वागत के योग्य है। उक्त परिकर्मों को पाटी पर करने की विभिन्न विधियों का, जिनका प्रयोग पाँचवी शताब्दी से ही भारतवर्ष में किया जा रहा है, हमने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यह भी प्रदर्शित किया है कि आधुनिक काल में प्रचलित विधियाँ प्राचीन हिन्दू विधियों के साधारण रूपान्तर-मात्र हैं। त्रैराशिक, कल्पना का नियम, ब्याज, विनिमय तथा सुवर्ण सम्बन्धी नियम हिन्दुओं की देन है। वस्तुतः सम्पूर्ण प्रारम्भिक गणित हिन्दुओं से आरम्भ होता है। अतएव अध्याय २ के महत्त्व के सम्बन्ध में जो भी कहा जाय अतिशयोक्ति न होगी।

जिन स्रोतों से सहायता ली गयी है उनका उल्लेख टिप्पणियो में कर दिया गया है। विशेष सहायताप्रद पुस्तको मे से बूलर कृत इंडियन पैलियोग्रैफी और ओझा कृत भारतीय प्राचीन लिपिमाला के नाम उल्लेखनीय है।

लखनऊ
सितम्बर, १९३५

बिभूतिभूषण दत्त
अवधेशनारायण सिंह

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक डा० बिभूतिभूषण दत्त और डा० अवधेश नारायण सिंह के सुविख्यात ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव हिन्दू मैथेमेटिक्स' के भाग १ का हिन्दी अनुवाद है। हिन्दू गणित के इतिहास पर इस समय हिन्दी में कोई ग्रथ नही है, आशा है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से इस अभाव की पूर्ति होगी।

अनुवाद करने में इस बात का ध्यान रखा गया है कि विषय शुद्ध और स्पष्ट हो और जहाँ तक सम्भव हो मूल के अनुरूप हो। अतएव उन स्थलो का अनुवाद करने मे जो अँगरेजी सस्करण में अनुवाद के रूप मे उद्धृत थे, मूलग्रथो का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार सस्कृत के गाणितिक ग्रंथो के उद्धरणो का अनुवाद उन ग्रंथों के सस्कृत-मूल पर आधारित है। लेटिन भाषा के कुछ उद्धरण जो अँगरेजी संस्करण में ज्यों के त्यो दे दिये गये थे, इस पुस्तक में हिन्दी मे अनुवादित कर दिये गये है।

डा० दत्त और सिंह की पुस्तक का प्रकाशन आज से लगभग २० वर्ष पूर्व हुआ था। इन २० वर्षो मे हिन्दू गणित के इतिहास के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान मे यद्यपि कोई विशेष प्रगति नही हुई है, तो भी कुछ नवीन बाते ज्ञात हुई है। इनमे से जो आवश्यक और प्रासगिक समझ पडी, प्रस्तुत पुस्तक मे सम्मिलित कर ली गयी है। यहाँ पर केवल वसुमित्र (१०० ई०) के उस उद्धरण की ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा जो शान्तरक्षित-कृत 'तत्व-सग्रह' पर कमलशील की टीका मे मिला है। इस उद्धरण मे दार्शनिक विषय को स्पष्ट करने के लिए दृष्टात के रूप मे दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है, जिससे यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि प्रथम शताब्दी के अन्त तक दशमलव स्थान-मान का भारतवर्ष में इतना अधिक प्रचार हो चुका था कि दार्शनिक लोग अपने विषय के प्रतिपादन में निधड़क होकर इसका प्रयोग करने लगे थे। इस महत्वपूर्ण तथ्य के लिए मैं श्रद्धेय स्वामी विद्यारण्य (भूतपूर्व डा० बिभूतिभूषण दत्त) का ऋणी हूँ जिन्होंने मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था।

कहीं-कहीं पर मूल की बातों में कुछ हेर-फेर किये गये हैं। उदाहरणार्थ वर्गमूल और घनमूल की प्राचीन हिन्दू प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण में कुछ आवश्यक सुधार किये गये है। पुस्तक में प्रयुक्त ग्रंथकारों के काल में भी कुछ संशोधन किये गये है, जैसे भास्कर प्रथम का समय ६२९ ई० कर दिया गया है जो भास्कर प्रथम के 'आर्यभटीय-भाष्य' का रचनाकाल है। इस प्रकार की कुछ अन्य बातों में भी अन्तर मिलेगा।

पुस्तक हिन्दी भाषी संसार के लिए लिखी गयी है, अतएव अभारतीय विद्वानों के नाम तथा अहिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओं के नाम, जिनका पुस्तक मे उल्लेख हुआ है, हिन्दी में दिये गये है।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे कई मित्रों से सहायता मिली है, उन्हें धन्यवाद प्रदान करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष होता है। अपने गुरु डा० गोरखप्रसाद जी का मै विशेषरूप से कृतज्ञ हूँ जिनसे मुझे कई प्रकार की सहायता प्राप्त हुई है।

कृपाशंकर शुक्ल

विषयानुक्रमणिका

अध्याय १

अंक-संकेत

पृष्ठ

१. प्राचीन भारतवर्ष की एक झलक १

२. हिन्दू और गणित-शास्त्र ३

गणित की प्रशंसा—हिन्दुओं की शिक्षा में गणित का स्थान

३. हिन्दू गणित और उसका विकास ५

४. अंक-सम्बन्धी परिभाषाएँ ७

अंक-संकेत का आधार—अंक-स्थान—बोलचाल की भाषा में अंक

५. अंक-संकेत का विकास १३

प्राचीन भारत में लेखन-क्रिया—प्राचीनतम अंक

६. खरोष्ठी के अंक १८

प्रारम्भिक उपलब्धि—आकार और उत्पत्ति

७. ब्राह्मी के अंक २२

प्रारम्भिक उपलब्धि और आकार—अंक-संकेतों में अंतर—उनकी उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त—अक्षर-संकेत में सम्बन्ध—इन्द्रजी का मत—आविष्कार का समय—सारांश

८. दशमलव स्थान-मान पद्धति ३४

महत्त्वपूर्ण लक्षण—आकार—नागरी लिपि के आकार—पुरालेख सम्बन्धी उदाहरण—उपर्युक्त लेखों की कल्पित अविश्वसनीयता—नवीन पद्धति के आविष्कार का स्थान—आविष्कारक अज्ञात— आविष्कार का समय

९. प्राचीन पद्धति का अन्त ४७

१०. शब्दांक पद्धति ४८

पद्धति का वर्णन—शब्दांकों की सूची—स्थान-मान के बिना

शब्दांकों का प्रयोग—शब्दांक-पद्धति में स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग—पुरालेखों में शब्दांक—उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास—आविष्कार का समय

११. **अक्षर-संकेत** ५८

आर्यभट प्रथम का अक्षर-संकेत—नियम का स्पष्टीकरण—कटपयादि पद्धति—अक्षरपल्ली—अन्य अक्षर पद्धतियाँ

१२. **शून्य का सांकेतिक चिह्न** ७०

प्रारम्भिक प्रयोग—शून्य का आकार—शून्य-सूचक चिह्न के अन्य प्रयोग

१३. **भारतीय साहित्य में स्थान-मान संकेत** ७६

जैन आगम ग्रन्थ—पुराण—दार्शनिक ग्रन्थ—साहित्यिक ग्रन्थ

१४. **स्थान-मान सिद्धान्त के आविष्कार का समय** ८१

१५. **अरब में हिन्दू-अंक** ८३

१६. **यूरोप में हिन्दू-अंक** ८६

ब्रैथिअस समस्या—निश्चित प्रमाण

१७. **हिन्दू अंकों के विविध उल्लेख** ६०

मीरिया के उल्लेख—अरब के उल्लेख—हिन्दसा आदि शब्द—यूरोपीय उल्लेख

१८. **सारिणी** ६६

भाग २

अंक-गणित

१. **सामान्य निरीक्षण** ११७

परिभाषा और विस्तार—उपलब्ध ग्रन्थ—लेखन और अध्यापन—गणित की अवनति—मौलिक परिकर्म

२. **संकलित** १२३

परिभाषा—करण—क्रम विधि—उत्क्रम विधि

३. व्यवकलित १२५
परिभाषा—करण—क्रम (या अनुलोम) विधि—उत्क्रम विधि
४. गुणन १२६
परिभाषा—गुणन की विधियाँ—कपाट-सन्धि विधि—पश्चिम में प्रवेश—गेलोसिया विधि—तिर्यक्-गुणन विधि—स्थान-खण्ड गुणन—गोमूत्रिका विधि—रूप-खण्ड गुणन—बीजीय विधि
५. भाग १४२
परिभाषा—करण—भाग की विधि
६. वर्ग १४७
परिभाषा—करण—वर्ग करने की गौण विधियाँ
७. घन १५४
परिभाषा—करण—घन निकालने की गौण विधियाँ
८. वर्गमूल १६०
परिभाषा—करण
९. घनमूल १६५
परिभाषा—करण
१०. क्रिया की शुद्धता की परीक्षा १७१
११. भिन्न १७५
प्रारम्भिक प्रयोग—नाप और तौल—परिभाषा—भिन्नों का लेखन—भिन्नों का अपवर्तन—भिन्नों का समच्छेदीकरण—मिश्र भिन्न—निरुद्ध—परिकर्माष्टक—संकलित और व्यवकलित—गुणन—भाग—वर्ग और वर्गमूल—घन और घनमूल—एकाशक भिन्न
१२. त्रैराशिक १९३
परिभाषा—करण—व्यस्त त्रैराशिक—त्रैराशिक की प्रशसा—पश्चिम के देशों में त्रैराशिक—मिश्रानुपात—विधि—त्रैराशिक, दशाविशेष के रूप में
१३. व्यावसायिक प्रश्न २०६
प्राचीन भारत में ब्याज—हिन्दू गणित में ब्याज—वर्ग-समी-

करण पर प्रश्न—ब्याज सम्बन्धी विविध प्रश्न—वस्तुओं का विनिमय—अन्य प्रकार के व्यावसायिक प्रश्न

१४. **विविध प्रश्न** २१७

इष्टकर्म—विलोम-विधि—मिश्रण सम्बन्धी प्रश्न वर्ग-समीकरण पर प्रश्न—अज्ञात राशि के वर्ग पर प्रश्न

१५. **शून्य गणित** २२४

अंकगणित में शून्य—बीजगणित मे शून्य—परमाल्प राशि के रूप में शून्य—अनन्त—अनिर्णीत स्वरूप

ग्रंथानुक्रमणिका २३३

अध्याय १

अंक-संकेत

१. प्राचीन भारतवर्ष की एक झलक

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का विद्यार्थी हिन्दुओं की उस विस्मयजनक उन्नति को देखकर विमुग्ध हो जाता है जो उन लोगों ने, कला और विज्ञान दोनों क्षेत्रों में, अत्यन्त प्राचीन काल मे सुसम्पादित कर ली थी। मोहेनजो-दड़ो में (पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाई के फलस्वरूप) किये गये अनुसन्धानों से पता चलता है कि ईसा के लगभग ३००० वर्ष पूर्व सिन्धु देश के निवासी, हिन्दू लोग, ईंटों के मकान बनाते थे, नगरों का नियोजन करते थे, सोना, चाँदी, ताँबा और जस्ता आदि धातुओं का प्रयोग करते थे, तथा अत्यन्त सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करते थे। प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ, वेद (लगभग ३००० ई० पू०, अथवा सम्भवतः इससे अधिक प्राचीन), यद्यपि विशेषकर देवताओं के गुणगान अथवा वन्दना-मात्र है, तो भी उच्च सभ्यता के द्योतक हैं। वेदों के बाद का ब्राह्मण साहित्य (लगभग २०००-१००० ई० पू०) अंशतः धार्मिक और अंशतः दार्शनिक है। इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक, सामाजिक, एवं धार्मिक दर्शन की भली-भाँति विकसित पद्धतियाँ तथा आधुनिक सभ्यता के निर्माण में सहायता प्रदान करनेवाली अधिकांश कलाओं और विज्ञानों के बीज दृष्टिगोचर होते है। और, इन्हीं ग्रन्थों मे ही हमें गणित (अंकगणित, क्षेत्रगणित और बीजगणित आदि) तथा गणित ज्योतिष का श्रीगणेश मिलता है। इस ब्राह्मण काल के बाद लगभग २००० वर्ष से कुछ अधिक समय पर्यन्त भारतवर्ष अविच्छिन्न उन्नति एव महत्त्वपूर्ण कार्यों का क्षेत्र बना रहा। यद्यपि इस काल में अनेक विदेशी आक्रमण और आभ्यंतरिक युद्ध हुए तथा बहुत से राज्यों का उत्थान एवं पतन हुआ, परन्तु मानसिक उन्नति में कोई विच्छिन्नता नहीं आने पायी। इसका श्रेय विशेषकर हिन्दू समाज की व्यवस्था को है। विदेशी आक्रमणकारी बाधक नहीं सिद्ध हुए, वरन् नया रक्त

जोड़कर उन्होंने हिन्दू समाज को अधिक शक्तिशाली बनाया और उन्नति में योग दिया। वे भारतवर्ष की भूमि में बस गये, विजित लोगों के धर्म एवं रीति-रिवाजों को उन्होने अपनाया, यहाँ तक कि हिन्दू समाज में वे पूर्ण रीति से घुल-मिल गये। उस समय कुछ लोग, जो ब्राह्मण कहलाते थे, ऐसे थे जिन्होंने निर्धनता स्वीकार की और पीढ़ी दर पीढ़ी विज्ञान और कला, धर्म एवं दर्शन की उन्नति की ओर अपने को संलग्न किया। ब्राह्मणों की निःस्वार्थता एव बुद्धिमत्ता के कारण राजाओं और जन-साधारण में उनका विशेष आदर था। वे शास्त्रकार थे तथा राजाओं के सलाहकार थे। वास्तव में राज्य-प्रबन्ध की बागडोर इन्हीं निःस्वार्थी, एवं विद्वान लोगों के हाथ में थी।

लगभग १०००-६०० ई० पू० में आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण महा-काव्य की रचना की, लगभग ७०० ई० पू० में वैयाकरण पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण को सुसम्पन्न किया, और ६०० ई० पू० के लगभग सुश्रुत ने आयुर्वेद तथा शल्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे।[1] सौ वर्ष बाद महावीर और गौतम बुद्ध ने धर्म एवं नीतिशास्त्रो तथा निर्वाण-मार्ग का उपदेश किया। इन धर्मों के फैलते ही जैन और बौद्ध साहित्य का विकास हुआ। पहले के कुछ पुराण और धर्मशास्त्र प्रायः इसी समय लिखे गये थे। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि ४०० ई० पू० से लगाकर ४०० ईसवी तक का समय महत्त्वपूर्ण कार्यों तथा उन्नति का युग था। इसी काल में जैन तत्त्वज्ञानी उमास्वाति, वैयाकरण एवं दार्शनिक पतञ्जलि, राजनीतिज्ञ कौटिल्य, रसज्ञ नागार्जुन, वैद्य चरक, एवं अमरकवि अश्वघोष, भास और कालिदास उत्पन्न हुए। इसी समय सौर, पैतामह, वासिष्ठ और पाराशर आदि ज्योतिष के महान् सिद्धान्तों की रचना हुई, और दशमलव स्थान-मान संकेत परिष्कृत किया गया।

२. हिन्दू और गणित-शास्त्र

गणित की प्रशंसा

कहा जाता है कि प्राचीन भारतवर्ष में किसी विज्ञान ने न तो स्वाधीन अस्तित्व ही प्राप्त किया और न उसका स्वतन्त्र रूप से विकास ही हुआ। वैदिक-

[1] इस अनुच्छेद के अन्तर्गत वर्णन किये गये प्रागैतिहासिक ग्रंथों तथा व्यक्तियों के काल के संबंध में अत्यधिक मतभेद है। हमने वही काल दिये हैं जो सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होते है।

कालीन भारत में जिस किसी विज्ञान का जो कुछ भी मिलता है, उसकी उत्पत्ति और विकास किसी न किसी वेदांग के अन्तर्गत, और इसलिए वैदिक क्रियाओं के सहायतार्थ, माना जाता है। कभी-कभी यह भी कल्पना की जाती है कि वैदिक-कालीन हिन्दू लोग किसी विज्ञान की विशेष उन्नति को निरुत्साहित करते थे, यह समझकर कि वह, उनकी चित्तवृत्ति को अन्य मार्गों की ओर ले जाकर, उनकी ब्रह्म-ज्ञान की खोज में बाधक सिद्ध होगी। वस्तुतः यह धारणा सर्वथा सत्य नहीं है। कदाचित् यह सत्य है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में विज्ञानों का विकास इसलिए हुआ कि वे धर्म में सहायक थे। परन्तु साधारणतया यह देखा गया है कि प्रत्येक काल और प्रत्येक देश मे लोगों का किसी ज्ञानविशेष में अनुराग सदैव कुछ विशेष कारणों से ही हुआ है। प्राचीन हिन्दुओं का अधिकतर समय धर्म-कर्म मे व्यतीत होता था। अतएव यह अस्वाभाविक नहीं है कि अन्य विषयों का ज्ञान उसी के सहायतार्थ बढ़ा और उसी के अन्तर्गत रखा गया। यह दिखाने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि समय पाकर सभी विज्ञान अपने मूल उद्देश्य का अतिक्रमण कर गये और उनका स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक काल के उत्तरार्ध में एक नवीन धारा बह निकली।

छांदोग्य उपनिषद्[1] में एक कथानक है जिसका महत्त्व हमारी धारणा की पुष्टि के लिए बड़े मूल्य का है। कथानक इस प्रकार है — किसी समय नारद, सनत्कुमार ऋषि के पास गये और उनसे ब्रह्म विद्या पढ़ाने की प्रार्थना की। सनत्कुमार ने नारद से पूछा कि वे कौन-कौन सी विद्याएँ पहले ही से पढ़े है, जिसमें वे विचार कर सके कि उन्हें अब क्या पढ़ना शेष रहा है। इस पर नारद ने उन सब विद्याओं को गिनाया जो वे पढ़ चुके थे। इस सूची मे नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष) और राशि-विद्या (अंकगणित) भी सम्मिलित है। इससे स्पष्ट है कि गणित का ज्ञान, अथवा कोई अन्य लौकिक ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान मे बाधक नहीं समझा जाता था। वस्तुतः उस काल में लौकिक ज्ञान (अपरा-विद्या) को आध्यात्मिक ज्ञान (परा-विद्या) का सहायक अंग समझते थे।[2]

जैनों ने भी गणित की उन्नति को महत्त्व प्रदान किया था। उनका धार्मिक साहित्य साधारणतः चार भागों में विभक्त है, जो अनुयोग कहलाते हैं।

[1] छांदोग्य उपनिषद्, ७. १, २, ४।
[2] मुण्डकोपनिषद्, १. १,३-५।

उनमें से एक गणितानुयोग है। संख्यान (अंकविद्या, अर्थात् अंकगणित और ज्योतिष) का ज्ञान जैन मुनियों की मुख्य साधना बतलायी गयी है।[1] बौद्ध साहित्य में भी अंकगणित (गणना, संख्यान) को प्रमुख एवं श्रेष्ठतम कला माना गया है।[2] इन सबसे भली भाँति अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारतवर्ष में गणित की उन्नति को कितना महत्त्व और मूल्य प्राप्त था।

गणित की प्रशंसा में निम्नलिखित कथन यद्यपि बहुत बाद का है तो भी मनोरंजक सिद्ध होगा, विशेषकर इसलिए कि वह अपने समय के श्रेष्ठतम गणितज्ञ महावीराचार्य की लेखनी से अवतरित हुआ है:

"लौकिक, वैदिक, तथा सामयिक जो जो व्यापार हैं उन सबमें गणित (संख्यान) का उपयोग है। कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, गान्धर्वशास्त्र (गायन), नाट्यशास्त्र, पाकशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुविद्या आदि वस्तुओं में; छंद, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण इत्यादि में; तथा कलाओं के समस्त गुणों में गणित अत्यन्त उपयोगी है। सूर्य आदि ग्रहों की गति (को ज्ञात करने) में, ग्रहण में, ग्रहों की युति में, प्रश्न ('दिक्, देश और काल' को ज्ञात करने) में, चन्द्रमा के परिलेख में, सर्वत्र गणित अंगीकृत है। द्वीपों, समुद्रों और पर्वतों की संख्या, व्यास और परिधि; लोक, अन्तर्लोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्ग और नरक के रहनेवाले सबके श्रेणी-बद्ध भवनों, सभा-भवनों एवं गुम्बदाकार मन्दिरों के प्रमाण तथा अन्य विविध प्रमाण गणित की सहायता से ही जाने जाते हैं। वहाँ पर प्राणियों के संस्थान, उनकी आयु और आठ गुण इत्यादि, यात्रा आदि तथा संहिता आदि से सम्बन्ध रखने वाले विषय, सभी गणित पर निर्भर हैं। अधिक कहने से क्या प्रयोजन? सचराचर त्रैलोक्य में जो कुछ भी वस्तु है उसका अस्तित्व गणित के बिना संभव नहीं हो सकता।

"कृतार्थ, पूज्य और जगत के स्वामी तीर्थंकरों की शिष्य-प्रशिष्यात्मक प्रसिद्ध गुरुपरंपरा से आये हुए संख्यानरूपी समुद्र में से — समुद्र से रत्न को भाँति, पाषाण से कांचन की भाँति, तथा शुक्ति से मुक्ताफल की भाँति — कुछ सार निकालकर,

[1] भगवती-सूत्र, सूत्र ९०; उत्तराध्ययन-सूत्र, २५. ७, ८, ३८।

[2] विनयपिटक, ओल्डनबर्ग द्वारा संपादित, जिल्द ४, पृष्ठ ७; मज्झिम-निकाय जिल्द १, पृ. ८५; चुल्लनिद्देश, पृ. १९९।

मैं गणितसारसंग्रह (नामक) ग्रन्थ अपनी मति-शक्ति के अनुसार कहता हूँ, जो लघु होते हुए भी अनल्पार्थक है।"[१]

हिन्दुओं की शिक्षा में गणित का स्थान

हिन्दुओं की शिक्षा का प्रारम्भिक काल ५ वर्ष की अवस्था से लेकर १२ वर्ष की अवस्था तक था। राजा-महाराजाओं के लड़कों के लिए इसमें कुछ अन्तर था। अध्ययन के मुख्य विषय लिपि अथवा लेखा (वर्णमाला, लेखन और पठन), रूप (ड्राइंग एवं क्षेत्रगणित), और गणना (अंकगणित) थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में लिखा है कि चूड़ाकर्म के बाद विद्यार्थी को लिपि (वर्णमाला) और संख्यान (अंकगणित) सीखना चाहिए।[२] हाथीगुफा के अन्तर्लेख[३] से पता चलता है कि कलिंग नरेश खारवेल ने अपने जीवन के नौ वर्ष (१६ वर्ष की अवस्था से लेकर २५ वर्ष तक की अवस्था तक) लेखा, रूप और गणना के अध्ययन में व्यतीत किये थे। राजकुमार गौतम ने ८ वर्ष की अवस्था में अध्ययन प्रारम्भ किया था — "पहले लेखन सीखा था और उसके पश्चात अंकगणित, जो (उस समय के) ७२ विज्ञानों और कलाओं में सबसे अधिक महत्त्व के थे।"[४] जैन आगम-ग्रन्थों में भी लेखा, रूप और गणना का उल्लेख मिलता है।[५]

३. हिन्दू गणित और उसका विकास

गणित शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'वह शास्त्र जिसमे गणना की प्रधानता है।' यह शब्द बहुत प्राचीन है और वैदिक साहित्य में बहुतायत से मिलता है। वेदांग-ज्योतिष नामक ग्रंथ वेदांग-शास्त्रों मे इसे सबसे ऊँचा स्थान प्रदान करता है—'जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ एवं नागों की मणियां (सबसे ऊँचे स्थान पर होती हैं) है, ठीक उसी प्रकार वेदांग-शास्त्रों मे गणित का

[१] गणित-सार-संग्रह, **अध्याय १, श्लोक ९-१९।**

[२] अर्थशास्त्र, **आर० शाम शास्त्री द्वारा संपादित, १. ५, २; अँगरेजी अनुवाद, पृ० १०।**

[३] हाथीगम्फा ऐण्ड थ्री अदर इंस्क्रिप्शंस, **भगवानलाल इंद्रजी द्वारा संपादित, पृ. २२।**

[४] अन्तगड-दसाओ ऐण्ड अनुत्तरवव्वाइय-दसाओ, **एल० डी० बार्नेट-कृत अँगरेजी अनुवाद, १९०७, पृ०३०; देखिए भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र, सूत्र २११।**

[५] **उदाहरणार्थ, देखिए** समवायाङ्ग-सूत्र, **सूत्र ७२।**

स्थान सबसे ऊँचा है।'[1] प्राचीन बौद्ध साहित्य में तीन प्रकार के गणित का उल्लेख मिलता है:(१) मुद्रा, (२) गणना और (३) संख्यान। इन तीनों का एक प्राचीनतम उल्लेख दीघ निकाय[2] में मिलता है। विनयपिटक,[3] दिव्यावदान[4] और मिलिन्दपञ्हो[5] में भी इनका वर्णन मिलता है। गणित के अर्थ में संख्यान का प्रयोग अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता है।[6] इतने प्राचीन काल में गणित में ज्योतिष भी सम्मिलित था, परन्तु क्षेत्रगणित कल्पसूत्र नामक अन्य विज्ञान के अन्तर्गत था।

लोगों का विचार है कि ईसवी सन् के आरम्भ के कुछ समय पहले हिन्दू गणित की जागृति का काल था।[7] इस जागृति का प्रभाव हिन्दू गणित के विस्तार पर विशेष रूप से पड़ा। ज्योतिष स्वतन्त्र विषय हो गया और क्षेत्रगणित इसका अंग हो गया। प्रारम्भिक जागृति-काल में हिन्दू गणित के अन्तर्गत ये विषय थे—परिकर्म, व्यवहार, रज्जु ("रस्सी", अर्थात् क्षेत्रगणित), राशि ("त्रैराशिक"), कलासवर्णन ("भिन्न सम्बन्धी परिकर्म"), यावत्तावत् ("जितना उतना", अर्थात् अज्ञात राशि का प्रयोग), वर्ग, घन, वर्गावर्ग ("चतुर्घात") तथा विकल्प ("क्रमचय और संचय")।[8]

[1] "यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥" (वेदांग-ज्योतिष, श्लोक ४).

[2] १, पृ. ५१।

[3] ४, पृ, ७।

[4] दिव्यावदान, ई० बी० कॉवेल तथा आर० ए० नील द्वारा संपादित, कैम्ब्रिज, १८८६, पृ. ३, २६, और ८८।

[5] मिलिन्दपञ्हो, राइस डेविड्स-कृत अँगरेजी अनुवाद, ऑक्सफोर्ड, १८९०, पृ. ९१।

[6] उदाहरणार्थ देखिए भद्रबाहु-कृत कल्पसूत्र, एच० याकोबी द्वारा संपादित, लाइपजिग, १८९७; भगवती-सूत्र, बम्बई, १९१८, पृ. ११२; अर्थशास्त्र, १. ५. २।

[7] बिभूतिभूषण दत्त, "दि स्कोप ऐण्ड डेवेलपमेंट ऑव हिन्दू गणित", इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ५, १९२९, पृ. ४७९-५१२।

[8] "परिकम्मं ववहारो रज्ज् राशी कलासवन्ने य।
जावन्तावति वग्गो घनो ततह वग्गवग्गो विकप्पो त॥"
(स्थानांगसूत्र, सूत्र ७४७)

इस प्रकार गणित शब्द सामान्य गणित के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा; मुद्रा और गणना इसकी परिधि के बाहर हो गये। गणित में आनेवाली क्रियाओं को करने के लिए लेखन-सामग्री का प्रयोग अनिवार्य था। ये क्रियाएँ या तो पाटी पर खड़िया से की जाती थीं, अथवा पाटी पर धूल बिछाकर किसी नुकीली कलम से। इस प्रकार गणित के अर्थ मे पाटीगणित अथवा धूलीकर्म शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। आगे चलकर गणित का वह भाग जो अज्ञात राशि से सम्बन्ध रखता था बीजगणित कहलाने लगा। यह पृथक्करण सबसे पहले ब्रह्मगुप्त ने किया था, परन्तु उन्होंने बीजगणित शब्द का प्रयोग नही किया। ब्राह्म स्फुट-सिद्धान्त का वह अध्याय जो बीजगणित से सम्बन्ध रखता है, 'कुट्टकाध्याय' कहलाता है। श्रीधराचार्य ने पाटीगणित और बीजगणित को पृथक् माना है और उन पर भिन्न भिन्न ग्रन्थों की रचना की। पाटीगणित और बीजगणित का यह अन्तर परवर्ती लेखकों ने यथावत् बनाये रक्खा।

प्राचीन भारत के गणित की स्थिति और विस्तार का सारांश देकर अब हम प्रस्तुत विषय, अर्थात् 'गणित की विभिन्न शाखाओं के विकास और उन्नति' की ओर अग्रसर होते है। सबसे पहले हम हिन्दू गणित की गणना-पद्धति का विवेचन करेंगे।

४. अंक-सम्बन्धी परिभाषाएँ

अंक-संकेत का आधार

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से गणना का आधार दस रहा है।[1] वास्तव में, दस के अतिरिक्त किसी अन्य आधार के विस्तृत प्रयोग का कोई भी चिह्न संस्कृत साहित्य भर मे कहीं नहीं मिलता। यह भारतवर्ष की एक विशेषता है कि अत्यन्त प्रारम्भिक काल में ही बड़े बड़े अंकों को सूचित करनेवाली संख्याएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जबकि यूनानवालों के पास 10^4 ("मिरियड") और रोमन लोगों के पास 10^3 ("मिले") से बड़ी संख्याओं को व्यक्त करनेवाली कोई भी संज्ञा नहीं थी, प्राचीन हिन्दुओं के पास लगभग अठारह अंकों तक की

[1] इसके बहुत से उदाहरण ऋग्वेद में मिलते है, जिनका मैकडॉनल और कीथ ने संग्रह किया है; देखिये वेदिक इंडेक्स, जिल्द १, पृ. ३४३।

संख्याओं को सूचित करनेवाली संज्ञाएँ विद्यमान थीं। आधुनिक युग में भी संसार के किसी देश की अंक-संज्ञाएँ उतनी वैज्ञानिक एवं पूर्ण नहीं हैं जितनी कि हिन्दुओं की हैं।

यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयी)[१] में निम्नलिखित अंक-संज्ञाओं की सूची दी हुई है: एक (१), दश (१०), शत (१००), सहस्र (१,०००), अयुत (१०,०००), नियुत (१,००,०००), प्रयुत (१०,००,०००), अर्बुद (१,००,००,०००), न्यर्बुद (१०,००,००,०००), समुद्र (१,००,००,००,०००), मध्य (१०,००,००,००,०००), अन्त (१,००,००,००,००,०००), और परार्ध (१०,००,००,००,००,०००)। यही सूची तैत्तिरीय संहिता में भी दो स्थानों पर मिलती है।[२] मैत्रायणी[३] और काठक[४] संहिताओं में भी यही सूची कुछ अंतर के साथ मिलती है। पंचविंश ब्राह्मण में न्यर्बुद तक यजुर्वेद की ही सूची है; न्यर्बुद के बाद निखर्व, वाडव, अक्षिति, इत्यादि संज्ञाएँ मिलती हैं। सांख्यायन श्रौतसूत्र[५] में न्यर्बुद के बाद निखर्व, समुद्र, सलिल, अन्त्य, अनन्त (१,००,००,००,००,००,०००) आदि संज्ञाएँ दी है। इन सभी संज्ञाओं में आगे वाली संज्ञा अपने पीछे वाली संज्ञा से दस गुनी अधिक है; इसलिए इन संज्ञाओं को 'दशगुणोत्तर संज्ञाएं'[६] कहते हैं।

आगे चल कर हम देखते हैं कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में शतगुणोत्तर संज्ञाओं की वृद्धि के लिए कई प्रयत्न किये गये, जो सफल सिद्ध हुए। नीचे हम प्रथम शताब्दी ई० पू० में लिखे गये सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तार से गणितज्ञ अर्जुन और राजकुमार गौतम (बोधिसत्व) के संवाद को उद्धृत करते हैं, जिससे इस शतोत्तर गणना पर प्रकाश पड़ेगा:

'गणितज्ञ अर्जुन ने बोधिसत्व से पूछा—नवयुवक! क्या तुम कोटि के आगे की शतोत्तर गणना जानते हो?

[१] यजुर्वेद संहिता, १७. २।

[२] ४. ४०. ११. ४; और ७. २. २०. १।

[३] २. ८. १४; इस सूची में अयुत, प्रयुत के बाद पुनः अयुत है, और उसके बाद न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध आते हैं।

[४] १७.१०; यह सूची भी पूर्ववत् है, केवल इतना अन्तर है कि नियुत और प्रयुत का स्थान-भेद हो गया है।

[५] १५.११.४।

[६] देखिए भास्कर द्वितीय-कृत लीलावती, पृ० २।

बोधिसत्व—हाँ, जानता हूँ।

अर्जुन—तो बताओ, कोटि के आगे की गणना किस प्रकार है?

बोधिसत्व—सौ कोटि, अयुत कहलाता है; सौ अयुत, नियुत; सौ नियुत, कंकर; सौ कंकर, विवर; सौ विवर, क्षोभ्य; सौ क्षोभ्य, विवाह; सौ विवाह, उत्संग; सौ उत्संग, बहुल; सौ बहुल, नागबल; सौ नागबल, तितिलंभ; सौ तितिलंभ, व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति; सौ व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति, हेतुहिल; सौ हेतुहिल, करहु; सौ करहु, हेत्विन्द्रिय; सौ हेत्विन्द्रिय, समाप्तलंभ; सौ समाप्तलंभ, गणनागति; सौ गणनागति, निरवद्य; सौ निरवद्य, मुद्राबल; सौ मुद्राबल, सर्वबल; सौ सर्वबल, विसंज्ञागति; सौ विसंज्ञा-गति, सर्वज्ञा; सौ सर्वज्ञा, विभूतंगमा; सौ विभूतगमा, तल्लक्षणा।'[१]

दशगुणोत्तर और शतगुणोत्तर संज्ञाओं की एक मनोरंजक सूची काच्चायनकृत पाली-व्याकरण[२] मे मिलती है। वह इस प्रकार है:—

दशगुणोत्तर संज्ञाएँ

१० × दस=सत	(१००)
१० × सत=सहस्स	(१,०००)
१० × सहस्स=दस सहस्स	(१०,०००)
१० × दस सहस्स=सत सहस्स[३]	(१,००,०००)
१० × सत सहस्स=दस सत सहस्स	(१०,००,०००)
१० × दस सत सहस्स=कोटि	(१,००,००,०००)

[१] इस प्रकार तल्लक्षणा = $१०^{५३}$।

इस और आगे के कथन से विदित होता है कि आर्किमिडीज से अनेक शताब्दियों पहले हिन्दू लोग ऐसी अंक-संज्ञाओं की श्रेणियाँ बनाने में सिद्धहस्त थे जो 'न केवल यही व्यक्त कर सकती थीं कि पृथ्वी-पिंड के तुल्य बालू के ढेर में कितने बालू के कण होंगे, बल्कि यह भी कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड के बराबर बालू के ढेर में कितने कण होंगे।'

देखिए, आर्किमिडीज-कृत ऑपेरा के १९५४ के संस्करण में 'डे हरेने न्यूमरो।' स्मिथ और कार्पिस्कीकृत 'हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स' (बोस्टन, १९११, पृ. १६) में इसका उल्लेख किया गया है।

[२] देखो "ग्रामेर पाली डे काच्चायन", जर्नल एशियाटिक, छठी श्रेणी, जिल्द १७, १८७१, पृ. ४११। इसमे सूत्र ५१ और ५२ की व्याख्या भी उद्धृत की गयी है।

[३] इसे लक्ख (लक्ष) भी कहा गया है।

कोटिगुणोत्तर संज्ञाएँ।

कोटि × कोटि=पकोटि[1]

कोटि × पकोटि=कोटिप्पकोटि

कोटि × कोटिप्पकोटि=नहुत

कोटि × नहुत=निन्नहुत

कोटि × निन्नहुत=अक्षोभिनि

इसी प्रकार बिंदु, अब्बुद, निरब्बुद अहह, अबब, अतत, सोगंधिक, उप्पल, कुमुद, पुडरीक, पदुम, कथान, महाकथान, और असंख्येय बनते है।[2]

अनुयोगद्वार-सूत्र[3] नामक जैन आगम में, जो ईसवी सन् के आरम्भ होने के कुछ पहले लिखा गया था, संसार के जीवों की संख्या इस प्रकार बतलायी गयी है; "(लोक के जीवों की सख्या) कोटि-कोटि आदि संज्ञाओं की सहायता से (अंकों मे) व्यक्त करने पर २९ स्थान लेती है, अथवा यह संख्या उस अंक संज्ञा से अधिक है जो २४ स्थान लेती है और उस अंक-संज्ञा से कम है जो ३२ स्थान लेती है, अथवा यह वह सख्या है जो २ के छठे वर्ग (अर्थात् $२^{६४}$) को २ के पाँचवें वर्ग (अर्थात् $२^{३२}$) से गुणा करने पर प्राप्त होती है, अथवा यह वह सख्या है जो २ से ९६ बार विभाजित की जा सकती है।" जैनग्रथो में मिलने वाली दूसरी बड़ी सख्या 'शीर्षप्रहेलिका' नामक काल को सूचित करती है। भाष्यकार हेमचन्द्र (जन्म १०८९ ई०) के मत से यह संख्या इतनी बड़ी है कि १९४ स्थान लेती है। इसका मान $(८४,००,०००)^{२८}$ भी बतलाया गया है।

अंक-स्थान

आगे चलकर जब स्थान-मान की भावना का विकास हुआ, अंक-सज्ञाओं का प्रयोग अंकस्थानों को सूचित करने के लिए किया गया। उदाहरणार्थ, आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने अंक-संज्ञाओं को अंक-स्थानों के अर्थ मे प्रयोग किया है। वे लिखते हैं;[4] "एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार), अयुत

[1] इसे कोटि-कोटि भी कहा गया है। इसका मान $(१०,०००,०००)^२$ अर्थात् $(१०)^{१४}$ है। देखिए अनुयोगद्वार-सूत्र, सूत्र १४२।

[2] इस प्रकार असंख्येय का मान $(१०)^{१४^२}$ अर्थात् $(१,००,००,०००)^२$ होता है।

[3] सूत्र १४२।

[4] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लो. २ ।

(दस हजार), नियुत (लाख), प्रयुत (दस लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), और वृन्द (अरब) स्थानों में से प्रत्येक अपने पीछे वाले से दस गुना है।" अंक-संज्ञा के अर्थ में 'स्थान' शब्द का प्रयोग पहले पहल उपर्युक्त जैन ग्रंथ में मिलता है।

अधिकांश गणित ग्रंथों मे अंक-संज्ञाओं को 'स्थानों के नाम' कहते हैं, और प्रायः अठारह स्थानों के नाम दिये रहते है। श्रीधर (ल० ७५० ई०) द्वारा दिये हुए नाम इस प्रकार है :[1] 'एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महासरोज, शंकु, सरितापति, अन्त्य, मध्य, और परार्ध।' महावीर (८५० ई०) ने २४ स्थानों के नाम दिये है जो इस प्रकार है:[2] 'एक, दश, शत, सहस्र, दश सहस्र, लक्ष, दश लक्ष, कोटि, दश कोटि, शत कोटि, अर्बुद, न्यर्बुद, खर्व, महाखर्व, पद्म, महापद्म, क्षोणी, महाक्षोणी, शंख, महाशंख, क्षिति, महाक्षिति, क्षोभ और महाक्षोभ।'

भास्कर द्वितीय (११५० ई०) की सूची श्रीधर की सूची से मिलती है, अन्तर केवल इतना है कि 'महासरोज' और 'सरितापति' के स्थानों मे क्रमानुसार उनके पर्याय-वाचक 'महापद्म' और 'जलधि' का प्रयोग है। भास्कर ने लिखा है कि स्थानों का नामकरण पूर्वाचार्यो ने क्रियात्मक व्यवहार के लिए किया था।[3]

नारायण (१३५६ ई०) ने भी इसी प्रकार की एक सूची दी है, जिसमें 'अब्ज' के स्थान मे 'सरोज', 'महासरोज' के स्थान मे 'महाब्ज' और 'सरितापति' के स्थान मे 'पारावार' का प्रयोग किया गया है।[4]

बोलचाल की भाषा मे अंक

एक से लेकर नौ तक अंको को संस्कृत मे एक, द्वि, त्रि, चतुर्, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट और नव कहते है। ये अंक ऊपर दी हुई स्थान संज्ञाओं की सहायता से किसी भी संख्या को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है। जब दो संख्याओं को जोड़

[1] त्रिशतिका, सूत्र २-३। इन्हें 'दशगुणोत्तर संज्ञा' कहा गया है।
[2] गणित-सार-संग्रह १, ६३-६८।
[3] लीलावती, पृ. २।
[4] यल्लय (१४८० ई०) ने आर्यभटीय की टीका में २९ अंक-संज्ञाओं की एक सूची दी है, जिसकी पहली २४ संज्ञाएँ महावीर की संज्ञाओं से मिलती हैं। केवल इतना अन्तर है कि महावीर के 'शंख' और 'महाशंख' के स्थान में यल्लय ने 'क्षोणी' और 'महाक्षोणी' लिखा है; शेष पाँच अंकसंज्ञाएँ क्रम से 'परार्ध' 'सागर', 'अनन्त', 'चिन्त्य' और 'भूरि' हैं।

कर संख्या बनाने की पद्धति का प्रयोग किया जाता है, तब दोनों संख्याओं में से कोई भी पहले कही जा सकती है। अर्थात् एक-दश और दश-एक दोनों का एक ही अर्थ होगा। परन्तु स्मरणातीत काल से ही अव्यवस्थित कथन की अपेक्षा एक निश्चित क्रम को अनुसरण करने की प्रथा चली आ रही है।

संस्कृत भाषा में जिस क्रम का अनुसरण किया जाता है वह इस प्रकार है: जब कोई संख्या केवल दो अंकों की होती है, तब इकाई वाला अंक पहले कहा जाता है और दहाई वाला उसके बाद; और जब कोई संख्या अधिक अंकों की होती है, तब बड़े मानवाले अंक पहले कहे जाते हैं और छोटे मानवाले अंक क्रम से उनके बाद, परन्तु इकाई और दहाई वाले दो अंकों को व्यक्त करने में पहली विधि का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार, यदि किसी संख्या में चार अंक हैं, तो उसे पढ़ने का सामान्य नियम यह होगा कि पहले हजार वाला अंक पढ़ा जाय और उसके बाद क्रम से सैकड़ा, इकाई और दहाईवाले। यह देखने की बात है कि सैकड़े के आगे की संख्या सूचित करने के नियम में आकस्मिक परिवर्तन देख पड़ता है। तथापि यह परिवर्तन संसार की प्रायः सभी भाषाओं में समान रूप से मिलता है।[1] इस आकस्मिक परिवर्तन का कोई निश्चित कारण नहीं प्रतीत होता।

१९, २९, ३९, ४९ इत्यादि संख्याएँ ऐसे उदाहरण हैं जिन्हें बोल-चाल की भाषा में व्यक्त करने में घटाने की पद्धति का प्रयोग होता है। वैदिक काल में हम देखते हैं कि १९ के लिए 'एकान्नविंशति' (एक-कम-बीस) का और ३९ के लिए 'एकान्नचत्वारिंशत्' (एक-कम-चालीस) का प्रयोग होता था।[2] आगे चल कर (सूत्र काल में) एकान्न शब्द एकोन में बदल दिया गया था, और कभी-कभी उपसर्ग 'एक' का भी त्याग कर दिया गया था। इस काल में ऊनविंशति, ऊनत्रिंशत् आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है जो आज तक प्रचलित है। नवदश, नवविंशति आदि वैकल्पिक व्यंजकों का भी कभी कभी प्रयोग होता था।[3]

[1] केवल कुछ ही भाषाओं में अवरोही क्रम मिलता है। अँगरेजी भाषा में बीस तक की संख्याओं के उच्चारण में पहले इकाई और तब दहाई का प्रयोग होता है।

[2] तैत्तिरीय संहिता, ७. २. ११।

[3] नवदश=१९ (वाजसनेयी संहिता, १४. २३; तैत्तिरीय संहिता, १४. २३. ३०)।
नवविंशति=२९ (वाजसनेयी संहिता, १४. ३१)।
नवनवति=९९ (ऋग्वेद, १. ८४. १३)।

प्रायः सभी संस्कृत साहित्य पद्य में है, अतएव पद्य रचना की सुविधा के लिए संख्याओं को व्यक्त करने मे कई प्रकार की युक्तियों का सहारा लिया जाता था, जिनमे से सबसे अधिक प्रचलित जोड़ने का सिद्धान्त[1] था। नीचे हम, गणित के ग्रंथो से, कुछ उदाहरण दे रहे हैं, जो सामान्य रूप से मिलते हैं :--

संख्या	व्यंजक		सिद्धान्त
१३९	४० × १०० – १	चत्वारिंशच्चैकोनशताधिक,[2]	योग-वियोग
२९७	३०० – ३	त्रिहीनशतत्रय,[3]	वियोग
१८	२×९	द्विनवक,[4]	गुणन
२७	३×९	त्रिनवक,[5]	गुणन
१२	२×६	द्विषट्,[6]	गुणन
२८,४८३	८३+४००+४०००×७	त्र्यशीतिमिश्राणि चतुश्शतानि चतुस्सहस्रघ्ननगान्वितानि,[7]	योग-गुणन

संख्या १२३४५६५४३२१ का व्यंजक 'एकादिषडन्तानि क्रमेण हीनानि'[8], अर्थात् 'वह संख्या जिसमे अंक पहले १ से ६ तक क्रमशः बढ़ते है और तब उसी क्रम से घटते हैं' विशेष मनोरंजक है।

जो अंक 'अक्षरांक' और 'शब्दांक' के नामों से प्रसिद्ध है, उनका प्रयोग बड़ी संख्याओं को व्यंजित करने मे होता था। इन अंकों का विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा।

५. अंक-संकेत का विकास

प्राचीन भारत में लेखन-क्रिया

सामान्य रूप से लोगों का विचार है कि अंक संकेतों का आविष्कार लेखन-क्रिया के आरम्भ होने के कुछ समय बाद हुआ, और यह भी कि प्रारम्भिक

[1] **त्रीणि शतानि त्रिसहस्राणि त्रिंश च नव च=३३३९ (ऋग्वेद, ३. ९. ९; १०. ५२. ६)।**
[2] **गणितसार-संग्रह, १.४।**
[3] **लीलावती, परि. ४, उदाहरण १।**
[4] **आर्यभटीय, २.३।**
[5] **त्रिशतिका, उदाहरण ४३।**
[6] **गणित-सार-संग्रह १.२८।**
[7] **गणित-सार-संग्रह, १.२७।**

अवस्था में अंक पूरे-पूरे शब्दों में लिखे जाते थे। बड़ी संख्याओं के विषय में यह धारणा सत्य प्रतीत होती है, परन्तु छोटी संख्याओं को व्यक्त करनेवाले संकेत उतने ही प्राचीन हैं जितनी कि स्वयं लेखन-क्रिया।

लेखन-क्रिया भारतवर्ष में कब प्रारम्भ हुई, इस संबंध में इतिहासकारों में अभी हाल तक मतभेद रहा है। कुछ कहते थे कि वैदिक काल में ही लोग लिखना जानते थे, परन्तु अधिकांश लोग जो वेबर, टेलर और बूलर आदि के अनुयायी थे इस मत के थे कि लेखन-क्रिया भारतवर्ष में आठवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के आस-पास पश्चिम से लायी गयी। इन लोगों के सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन भारतीय लिपि, जैसी अशोक के अन्तर्लेखों में मिलती है, और भी अधिक प्राचीन उस लिपि से निकली है जो मिस्र और मेसोपोटामिया में मिली है। सेमिटिक उत्पत्ति का अनुमान सबसे पहले सन् १८०६ ई० में सर विलियम जोन्स ने किया था, और आगे चलकर कॉप (१९२१ ई०), लेप्सियस (१८३४ ई०) आदि बहुतों ने इसका समर्थन किया था। फिर भी इस सिद्धान्त के माननेवाले पूर्णतया एकमत नहीं हैं, क्योंकि एक ओर डब्ल्यू० डेके और आइ० टेलर भारतीय लिपि को दक्षिणी सेमिटिक लिपि से व्युत्पन्न मानते हैं, दूसरी ओर वेबर और बूलर इसे फिनिशियन अथवा किसी उत्तरी सेमिटिक लिपि से निकली हुई मानते हैं।[1] बूलर ने दक्षिणी सेमिटिक लिपि से की गयी व्युत्पत्ति का खण्डन किया है, इस आधार पर कि उसमें अत्यधिक अनुमानों की कल्पना करनी पड़ती है, और उसके साथ-साथ उसे विश्वसनीय बनाने के लिए अक्षरों में अत्यधिक परिवर्तन करने पड़ते हैं। फिर भी उन्होंने वेबर द्वारा उत्तरी सेमिटिक लिपि से की गई व्युत्पत्ति का समर्थन किया है, और उस सिद्धान्त का विस्तृत विवरण दिया है।[2] ओझा[3] ने बूलर के सिद्धान्त की परीक्षा विस्तार में की है, और उसे मनगढ़ंत एवं सचाई के प्रतिकूल बताते हुए उसको अस्वीकार किया है। उन्होंने बताया है कि फिनिशियन (उत्तरी सेमिटिक) लिपि के २२ अक्षरों में से केवल एक ही अक्षर ऐसा है जो उच्चारण में ब्राह्मी लिपि के एक अक्षर से सादृश्य रखता है। उन्होंने दोनों प्रकार के अक्षरों की एक सारिणी देकर,

[1] विभिन्न लेखकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के साधारण अन्तर जानने के लिए, देखिए बूलर-कृत पैलियोग्रैफी, पृ. ९; ये अन्तर टिप्पणियों में दिये गये हैं।

[2] बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. ९ और उसके आगे।

[3] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. १८-३१।

जिसमें समान उच्चारण वाले शब्द पंक्तिबद्ध किये गये हैं, अपने तर्क की अत्यंत संतोषजनक पुष्टि की है। उन्होंने यह भी दिखाया है कि बूलर की रीति का अनुसरण करके कोई भी लिपि किसी भी अन्य लिपि से निकली हुई सिद्ध की जा सकती है।[१]

अन्य विद्वानों ने, जो यह मानते थे कि लेखन-क्रिया वैदिककाल जैसे प्राचीन काल से ही भारतवर्ष मे ज्ञात थी, अपने मत की पुष्टि साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर की है। वसिष्ठ-धर्मसूत्र मे, जो मूलतः ऋग्वेद की एक शाखा के अन्तर्गत था, कुछ ऐसे प्रमाण मिलते है जिनसे स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वैदिक काल में लेखन-क्रिया का प्रयोग होता था। वसिष्ठ (१६.१०, १४-१५) ने लिखित प्रलेखो का उल्लेख वैध प्रमाण के रूप मे किया है, और इनमे से पहला सूत्र किसी और भी प्राचीन ग्रंथ अथवा परम्परागत ज्ञान का उद्धरण है। निम्नलिखित उद्धरण जिसमे अंक ८ को लिखने का उल्लेख है स्वय ऋग्वेद (१०.६२.७) का ही है; 'सहस्रं में ददतो अष्टकर्ण्यः', अर्थात् 'मुझे ऐसी सहस्र (गायें) प्रदान करो जिनके कानों मे ८ लिखा हो।' इस अर्थ पर कुछ विद्वानों ने सदेह प्रकट किया है, परन्तु पाणिनि का समर्थन प्राप्त होने के कारण यह ठीक प्रतीत होता है।[२] ऐसा जान पडता है कि गौवों का अपने मालिक से सम्बन्ध सूचित करने के लिए उनके कानों मे अंक लिखने की प्रथा का प्राचीन भारत में पर्याप्त प्रचार था।[३]

[१] हाल में बहुतेरे अन्य विद्वानों ने बूलर की उत्पत्ति के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया है। देखिए भंडारकर, "ऑरिजिन आव इंडियन ऐल्फाबेट" सर आशुतोष मुकर्जी जुबिली वाल्यूम्स, जिल्द ३, १९२२, पृ. ४९३; एच. सी. रे, "दि इंडियन ऐल्फाबेट" इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द ३, १९२४, पृ. २३३; और सर जॉन मार्शल, मोहेनजो-दड़ो ऐण्ड दि इंडस सिविलाइजेशन, १९३१, पृ. ४२४, जहाँ पर यह कहा गया है: "मुझे पूर्ण विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि को सेमिटिक लिपि से निकली हुई सिद्ध करने के सभी प्रयत्न नितान्त असफल थे।"

[२] 'कर्णो वर्णलक्षणात्' (६. २. ११२) और (६. ३. ११५) से इस अर्थ को समर्थन मिलता है।

[३] अथर्ववेद (६. १४१) में कानों पर 'मिथुन' के चिह्न बनाने की रीति का उल्लेख है। (१२.४-६) में इस प्रथा की निंदा की गयी है। मैत्रायणी संहिता में इस विषय पर एक स्वतंत्र अध्याय है; ऐसे चिह्न बनाने की रीति का वर्णन ४. २. ९ में है।

ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर (१०.३४) एक जुआरी का उल्लेख आया है जो अपने भाग्य पर रोता है और कहता है कि 'एक'[1] पर बाजी लगा कर हमने अपनी पतिव्रता स्त्री को खो दिया....।' अथर्ववेद (७. २५०, (५१), ५) में 'लिखे हुए धन'[2] का उल्लेख है। पाणिनि (७०० ई० पू० के लगभग) की व्याकरण में 'यवनानि' (अर्थात् 'सेमिटिक लेख'), 'लिपिकार' और 'लिबिकार' (लेखक)[3] शब्द आये हैं, जिनसे पता चलता है कि उनके समय में लेखन-क्रिया ज्ञात थी। इन उल्लेखों के अतिरिक्त, वैदिक कालीन ग्रन्थों में कुछ पारिभाषिक शब्द, जैसे अक्षर, कांड (अध्याय), पटल, ग्रंथ इत्यादि आये है जो उस समय लेखन-क्रिया का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए प्रमाण के रूप में उद्धृत किये गये हैं। लिखित प्रलेखों के इन उल्लेखों का जब वैदिक कालीन उच्च सभ्यता, विशेषकर व्यापार तथा आर्थिक लेन देन के जटिल लेखा की उन्नत दशा, ब्राह्मण ग्रंथों में गद्यात्मक प्रयोग, वैदिक ग्रंथों के मंत्र संग्रह, उनकी क्रमबद्धता, एवं विश्लेषण, तथा वेदांगों में मिलनेवाली ध्वनि और कोष सम्बन्धी अन्वेषण के साथ-साथ विचार किया जाता है तब हमें भारतवर्ष में लेखन-क्रिया का अत्यंत प्राचीन काल में अस्तित्व निर्धारित करने के लिए पर्याप्त साधन मिलता है।[4] यद्यपि इन तर्कों में पर्याप्त बल है तथापि सामान्य रूप से उनका आदर नहीं हुआ, जो कि 'असम्भव की युक्ति' का प्रयोग होने पर सदैव होगा। आर० शामशास्त्री (१९०६ ई०) ने भारतवर्ष के प्राचीन हिएरोग्लिफिक् चित्रों के आधार पर (जो कि उनके अनुसार तान्त्रिक लिपि में है) शब्दों की एक व्युत्पत्ति प्रकाशित की है, परन्तु उनके पांडित्यपूर्ण लेख पर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया है।

हाल के अन्वेषणों ने तो उन सभी सिद्धान्तों को पूर्णतया निरर्थक सिद्ध कर दिया है जो भारतीय लिपि को विदेशी लिपि पर आधारित मानते थे। महा-पाषाण युग (६०० ई० पू०-३००० ई० पू०) और नवपाषाण युग (१५०० ई० पू० के लगभग) के मिट्टी के बर्तन, जो मद्रास के अजायबघर में सुरक्षित हैं,

[1] यहाँ पर 'एक' का अर्थ पाँसे पर छपे हुए 'एक' से है।
[2] अजैवं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।
[3] ३. २. २१।
[4] देखिए बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. ३।

लेखन से अंकित है। भंडारकर[1] के अनुसार इनमें पाँच चिह्न ऐसे हैं जो अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि के चिह्नों के सदृश हैं। मोहेनजो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई के फलस्वरूप ऐसे लेख और मुहरें प्रकाश में आयी हैं जो लगभग ३००० ई० पू० की हैं। अतएव अब ब्राह्मी लिपि को आठवीं या नवीं शताब्दी ई० पू० की किसी सेमिटिक लिपि से व्युत्पन्न मानना असंगत होगा।

प्राचीनतम अंक

मोहेनजो-दड़ो मे प्राप्त मुहरों और लेखों के अंक-सूचक चिह्न अभी तक पूर्ण रूप से नहीं पढ़े जा सके हैं, परन्तु उनमे कहीं-कही एक खड़ी पाई, पास-पास रखीं हुई कई खडी पाइयाँ, और एक के ऊपर एक करके रक्खी हुई कई खड़ी पाइयाँ मिली हैं। मालूम होता है कि १ से लेकर १३ तक के अंक इन्हीं खडी पाइयों से सूचित किये गये हैं, कदाचित् उसी प्रकार जैसे नीचे के चित्र में दिखाया गया है।[2]

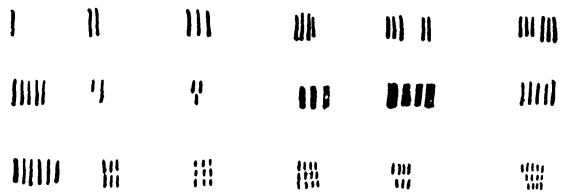

यह बिलकुल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि २०, ३०, सैकड़े और अधिक बड़ी संख्याओं को लिखने के लिए भी उस समय संकेत थे अथवा नहीं। यद्यपि अनेक ऐसे चिह्न मिलते हैं जिनके विषय में लोगों का विश्वास है कि वे ऐसी ही (बड़ी) संख्याओं को सूचित करते हैं, परन्तु इस समय ऐसा उपाय ज्ञात नहीं है जिससे कि उन चिह्नों के यथार्थ मान का पता चल सके।

[1] पूर्वोक्त ग्रंथ।

[2] मार्शल, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ. ४५०-५२। जी० आर० हंटर-कृत "मोहेनजो-दड़ो—इंडस एपिग्रैफी", (जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, अप्रैल, १९३२, पृ. ४७०, ४७८ और आगे) भी देखिए। हंटर महोदय ने कुछ संकेतों के संख्यात्मक मान के संबंध में निश्चयपूर्वक लिखा है।

मोहेनजो-दड़ो में प्राप्त सामग्री तथा अशोक के अंकगर्भित अन्तर्लेखों के बीच २७०० वर्षों या उससे अधिक समय का व्यवधान है। इस व्यवधान के काल में अब तक कोई ऐसा लिखित प्रलेख नहीं मिला जिसमें अंक-चिह्नों का प्रयोग किया गया हो। तो भी साहित्यिक प्रमाणों से विदित होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे अंक-संकेतों का प्रयोग होता था। ऋग्वेद में अंक ८ का उल्लेख तथा यजुर्वेद संहिता में $१०^{१२}$ तक की संख्याओं को सूचित करनेवाली संज्ञाओं का प्रयोग, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यह सिद्ध करने के पर्याप्त साधन है कि उतने प्राचीन काल में भी हिन्दू लोगों के पास भली-भाँति विकसित अंक-संकेत रहे होंगे। इस निष्कर्ष को इस बात से और भी बल मिलता है कि ग्रीस और रोमवालों की अंकसंज्ञाएँ, उन देशों में लेखन तथा संतोषजनक अंक-संकेत के सैकड़ों वर्ष तक प्रयोग मे आ जाने के बाद भी, $१०^{४}$ के आगे नहीं बढ़ सकीं।

अशोक के अन्तर्लेखों से विदित होता है कि उनके समय में अंक संकेत सामान्य-रूप से भारतवर्ष में खूब प्रचलित थे।[१] विभिन्न अन्तर्लेखों के अंक चिह्नों में पाया जानेवाला अंतर इस बात की ओर संकेत करता है कि वे चिह्न बहुत पहले से प्रचलित थे।

अशोक के तथा अगले काल के अधिकांश अन्तर्लेख ब्राह्मी लिपि में है, शेष खरोष्ठी लिपि में है। इन दो लिपियों के अक-सूचक चिह्नों में विभिन्नता है। अतएव इन पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

६. खरोष्ठी के अंक

प्रारम्भिक उपलब्धि

खरोष्ठी लिपि दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। इस लिपि के अधिकांश अन्तर्लेख प्राचीन गान्धार (आधुनिक पूर्वी अफगानिस्तान और उत्तरी पंजाब) में मिले है। यह लिपि मुनीमों और व्यवसायियों के मतलब

[१] मेगस्थनीज ने उन मील के पत्थरों की चर्चा की है जो सड़क पर लगे हुए थे और दूरियों की तथा निवेश-स्थानों की सूचना देते थे। ये दूरियाँ अवश्य ही अंक-सूचक चिह्नों से लिखी रही होंगी (बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. ६; इंडिका ऑव मेगस्थनीज, पृ. १२५-२६)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित हिसाब रखने की जटिल रीति से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

की थी और सुप्रसिद्ध थी। भारतवर्ष में इसका प्रचार चौथी शताब्दी ई० पू० से लेकर तीसरी शताब्दी ईसवी तक रहा है। अशोक के समय के खरोष्ठी लिपि के अन्तर्लेखों में केवल चार अंक-सूचक चिह्न मिले है। ये प्राचीन काल के चार ऊर्ध्वाधर चिह्न हैं जो एक, दो, तीन और चार अंकों को निम्न प्रकार से सूचित करते है :

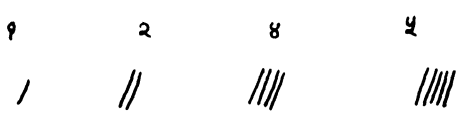

इन अंकों के अधिक विकसित स्वरूप शक, पार्थियन और कुषान राजाओं के पहली शताब्दी ई० पू० तथा पहली और दूसरी शताब्दियों के अन्तर्लेखों में, और कदाचित् बाद के अन्य प्रलेखों में भी मिलते हैं। इस काल के कुछ अंक निम्न प्रकार के हैं :

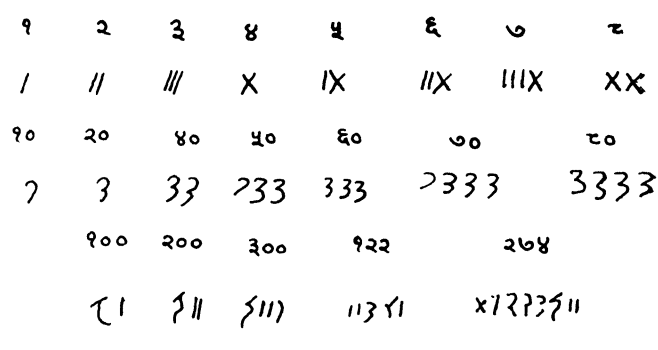

आकार और उत्पत्ति

यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि चार का अंक, जो पहले चार ऊर्ध्वाधर रेखाओं से व्यंजित किया जाता था, बाद में क्रास (×) से क्यों सूचित किया जाने लगा। ५ से लेकर ८ तक के अंकों को सूचित करने में 'संकलन-सिद्धान्त'[1] का प्रयोग किया गया है, जिसका आधार ४ है। ४ से ८

[1] अर्थात जोड़ने का सिद्धान्त।

तक के अंकों के लिखने की यह रीति सेमाइट लोगों के प्रारम्भिक अभिलेखों में नहीं मिलती। ९ का अंक किस प्रकार लिखा जाता था, हमें कोई जानकारी नहीं। बहुत सम्भव है कि वह |XX, अर्थात् ४+४+१ (लिपि के क्रम के अनुसार दाहिनी ओर से बायीं ओर पढ़ने पर), से सूचित किया जाता हो। १० के लिए एक नया ही चिह्न है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि १० को ||XX से क्यों नहीं सूचित करते थे, अथवा उसे लिखने में X (४) के आधार का परित्याग क्यों किया गया।

यह सभी स्वीकार करते हैं कि खरोष्ठी विदेशी लिपि है, जो पश्चिम से भारतवर्ष मे लायी गयी थी। परन्तु उसे भारतवर्ष मे लाये जाने का ठीक समय ज्ञात नहीं है। संभव है कि (५०० ई० पू० के लगभग) जिस समय डेरिएस ने पंजाब पर विजय प्राप्त की थी उस समय अथवा और पहले लायी गयी हो।[१] ऊपर दिये हुए अंक निश्चयतः इसी लिपि के हैं, क्योंकि उनका क्रम दाहिनी ओर से बायीं ओर को है।

ऐसा मालूम होता है कि अशोक के अन्तर्लेखों मे मिलनेवाले (खरोष्ठी लिपि के) प्राचीन चिह्नों मे, विशेषकर उनमें जो ४ से लेकर ९ तक अंकों को सूचित करते हैं, आगे चल कर कुछ सुधार किये गये थे। यह भी प्रतीत होता है कि ४ और १० के चिह्न भारतवर्ष मे ही बनाये गये, इस दृष्टि से कि अंक-लेखन में सरलता हो और इसलिए भी कि वे अत्यन्त प्रचलित ब्राह्मी अंकों के समकक्ष हो जायें। मालूम होता है कि चिह्न X, ब्राह्मी के × को, जो अशोक के अन्तर्लेखों मे ४ का सूचक है, घुमाकर बनाया गया है। घूमे हुए क्रास (×) का ४ के अर्थ मे प्रयोग नेबेटियन अंकों में भी मिलता है, जो ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों मे

[१] खरोष्ठी लिपि के विदेशी होने के सिद्धान्त पर मोहेनजो-दड़ो और हड़प्पा की खोजों के प्रकाश में पुनर्विचार करना पड़ेगा, विशेषकर इस तथ्य के आधार पर कि मोहेनजो-दड़ो की वर्णमाला का क्रम दाहिनी ओर से बायीं ओर को था।

प्रचलित थे।[1] २० के आधार का प्रयोग करने मे तथा सैकडों की बनावट में भी नेबेटियन अंक खरोष्ठी के अंकों से मिलते है। सम्भव है कि सेमाइट लोगों ने ४ को सूचित करनेवाले चिह्न को खरोष्ठी से नकल कर लिया हो, यद्यपि यह भी असंभव नहीं है, जैसा बूलर का विचार है, कि उक्त चिह्न का आविष्कार दोनों राष्ट्रो ने स्वतंत्र रूप से किया हो।

खरोष्ठी का दशसूचक चिह्न ब्राह्मी के 'अ' अक्षर से पूर्णतया मिलता है। बीस को सूचित करनेवाला चिह्न दश के दो चिह्नों को एक मे मिला कर लिखने से बना है। यह पपायरस ब्लैकस[2] (पाँचवी शताब्दी ई० पू०) के एक फिनिशियन चिह्न से मिलता है। ३०, ४०, आदि अंकों को १० और २० के सहायता मे व्यंजित करने का सिद्धान्त ठीक वैसा ही है जैसा कि प्राचीन फिनिशियन और आरमीनियन लोगों मे मिलता है।

१०० के चिह्न का आकार ठीक वैसा ही है जैसा ब्राह्मी के 'त' या 'त्र' अक्षर के दाहिनी ओर एक खड़ी पाई लगा देने से बनेगा।

२००, ३०० इत्यादि के चिह्न, १०० के चिह्न के दाहिनी ओर क्रमशः २, ३ इत्यादि के चिह्न लिखने से बने है। स्पष्ट है कि ऐसा करने मे गुणन-सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है, जैसा कि प्राचीन फिनिशिअन लोगों मे भी मिलता है।[3]

अन्य सख्याओं की बनावट २७४ की बनावट को देखने से समझ मे आ जायगी। यह अंक २, १००, २०, २०, २०, १० और ४ के चिह्नो को, दाहिनी ओर से बायीं ओर, निम्न प्रकार से लिखने पर बनता है :

[1] जे. ऑपर्टिंग्, नबाटेंशे इंश्रिफ्टेन आउस अरावियन, बर्लिन, १८८५, पृ० ९६-९७।

[2] बूलर, पैलिओग्रैफी, पृ० ७७; ओझा, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १२८; आगे देखिए सारिणी २ (ब)।

[3] आगे देखिए, सारिणी २ (स)।

२, जो १०० के दाहिनी ओर लिखा है, १०० को गुणा करता है; बाकी अंक जो १०० के बायीं ओर लिखे हैं उस गुणनफल में जुड़ जाते हैं; इस प्रकार २७४ की प्राप्ति होती है।

खरोष्ठी लिपि के प्राचीन अंक सारिणी १ में दिये है।

७. ब्राह्मी के अंक

प्रारम्भिक उपलब्धि और आकार

ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अन्तर्लेख समस्त भारतवर्ष मे फैले हुए मिलते हैं। इससे यह विदित होता है कि ब्राह्मी लिपि प्राचीन हिन्दुओं की राष्ट्रीय लिपि थी। निस्सन्देह यह ब्राह्मणों का आविष्कार है। मालूम होता है कि व्याकरण एवं ध्वनि-संबंधी प्राचीन अनुसंधानों के परिणाम-स्वरूप इस लिपि की सिद्धि १००० ई० पू० अथवा इसके कुछ पहले हुई। अतएव ब्राह्मी अंक पूर्णतया भारतीय आविष्कार हैं। कई प्रख्यात लेखकों ने इन अंकों की विदेशी उत्पत्ति सिद्ध करने के सिद्धान्त उपस्थित करने के प्रयत्न किये है, परन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि उनके सभी प्रयत्न असफल रहे हैं।[1] इन सिद्धान्तों पर आगे यथा-स्थान विचार किया जायगा। प्राचीन प्रलेखों के अभाव के कारण हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ब्राह्मी अंकों के मूल आकार क्या थे। इन अंकों के विषय में हमारा ज्ञान पीछे की ओर महाराज अशोक (लगभग ३०० ई० पू०) के समय तक जाता है, जिनके विशाल साम्राज्य में सम्पूर्ण भारतवर्ष सम्मिलित था और जो उत्तर में मध्य एशिया तक फैला था। अशोक के अन्तर्लेखों मे मिलनेवाले अंक निम्न आकार के है:

४	६	५०	२००
+	६,६	८,ე	८, ५, ६

दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर्लेख, जिसमें अंकों का प्रयोग हुआ है, पूना से लगभग ७५ मील की दूरी पर नानाघाट नामक पहाड़ी की चोटी पर स्थित एक गुफा में

[1] मोहेनजो-दड़ो ऐण्ड दि इंडस सिविलाइजेशन, अध्याय २३, में लैंगडन का मत देखिए।

मिला है। यह गुफा महाराज शातवाहन के वंशज महाराज वेदिश्री की आज्ञा से यात्रियों के ठहरने के लिए बनायी गयी थी। इस अन्तर्लेख में यज्ञों के अवसरों पर दिये हुए दान की सूची मिलती है। इसे पहले-पहल पंडित भगवानलाल इन्द्र जी ने पढ़ा था और इसके अंक-चिह्नों का अर्थ लगाया था।[1] ये अंक प्रायः ३० स्थानों पर आये हैं, और उनके आकार निम्न प्रकार के हैं:

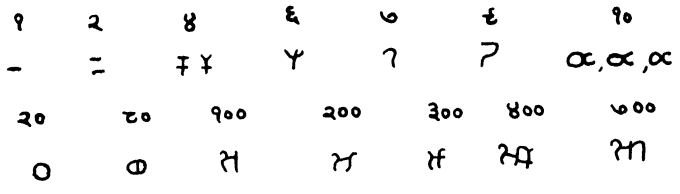

पहली और दूसरी शताब्दी के कई अन्तर्लेख जिनमें अंकों का प्रयोग हुआ है बम्बई प्रेसीडेन्सी के नासिक जिले में स्थित एक गुफा में मिले हैं। इनमें अंकों की अधिक पूर्ण सूची मिलती है। उनके आकार[2] निम्नलिखित हैं:

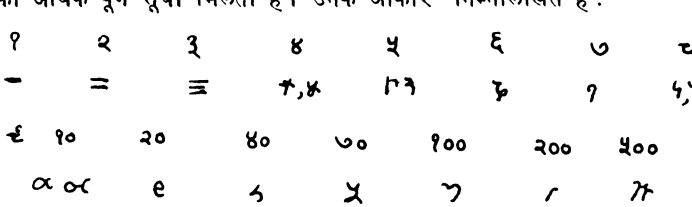

[1] "ऑन ऐशेण्ट नागरी न्यूमरेशन फ्राम ऐन इंस्क्रिप्शन ऐट नानाघाट", जर्नल ऑव दि बाम्बे ब्रांच ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८७६, जिल्द १२, पृ० ४०४।

[2] ई० सेनार्ट, "दि इंस्क्रिप्शंस इन दि केव्ज ऐट नासिक," एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द ८, पृ० ५९-९६; "दि इंस्क्रिप्शंस इन दि केव ऐट कार्ले", एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द ७, पृ० ४७-७४।

शून्य एवं स्थान-मान सिद्धान्त के आविष्कार के बाद भी १ से लेकर ९ तक अंकों के उन्हीं (प्राचीन) चिह्नों का, शून्य के साथ, प्रयोग होता रहा। अतएव इन चिह्नों का क्रमिक विकास सहज ही मालूम किया जा सकता है। यह क्रमिक परिवर्तन, जो स्थान-मान-सिद्धान्त रहित प्राचीन प्रणाली से लेकर शून्य और स्थान-मान-सिद्धान्त-युक्त नवीन प्रणाली तक हुआ, केवल भारतवर्ष में ही देखने में आता है। संसार के अन्य राष्ट्रों ने अपने देश के अंक-संकेतो को, जिन्हें वे स्थान-मान सिद्धान्त की सहायता के बिना ही प्रयोग करते थे, त्याग दिया और उनके साथ मे शून्य तथा नवीन अंक-चिह्नों को ग्रहण किया, जो कि उनके देश मे पहले कभी प्रयुक्त नहीं हुए थे। केवल यही तथ्य शून्य एवं स्थान-मान सिद्धान्त की भारतीय उत्पत्ति का ज्वलंत प्रमाण है।

ब्राह्मी लिपि की १, २ और ३ संख्याएँ, एक के नीचे एक करके रखी हुई क्रमानुसार एक, दो, और तीन बेड़ी (क्षतिज) रेखाओं[1] से सूचित की जाती थीं। इन आकारों से ही ब्राह्मी संकेत का खरोष्ठी और सेमिटिक संकेतों से अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

यह कहना कि ब्राह्मी लिपि की रेखाएँ बेड़ी तथा खरोष्ठी और सेमिटिक की खडी (ऊर्ध्वाधर) क्यों है उतना ही कठिन है जितना कि यह बताना कि ब्राह्मी लिपि में लिखने का क्रम बायी ओर से दाहिनी ओर क्यों है जबकि खरोष्ठी और सेमिटिक लिपियों मे लिखने का क्रम दाहिनी ओर से बायीं ओर को है। हमारा विचार है कि ब्राह्मी और खरोष्ठी (सेमिटिक) अकों का सदा से साथ-साथ अस्तित्व रहा है। दोनों लिपियों में १ से ३ तक के अंक-संकेतों का अन्तर कदाचित उन लिपियों के मौलिक अन्तर के कारण है। दोनों लिपियों में अंक-चिह्नों की रचना का सिद्धान्त स्पष्टतया भिन्न है।

अन्य संकेतों से अन्तर

ब्राह्मी लिपि में १, ४ से ९ और १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १००, २००, ३००, ..., १०००, २००० इत्यादि प्रत्येक सख्या के

[1] **स्मिथ और कार्पिंस्की का यह कथन अशुद्ध है कि नानाघाट वाले आकार ऊर्ध्वाधर है। देखिए, हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स, पृ० २८।**

लिए अलग-अलग संकेत है, जबकि प्राचीनतम खरोष्ठी और प्राचीनतम सेमिटिक लिपियों में तथा हिएरोग्लिफिक[1] और फिनिशियन लिपियों मे केवल १, १०, २० और १०० को सूचित करनेवाले ही संकेत है।

तो भी हिएरेटिक और डेमोटिक[2] अंक ब्राह्मी से इस बात में मिलते है कि इन तीनों में १ से १०० तक की संख्याओं के लिए केवल १९ संकेतों का प्रयोग किया गया है, परन्तु, जैसा सारिणी २ (स) से विदित होगा, २००, ३००, ४००, २०००, ३००० और ४००० को सूचित करनेवाले संकेतों की रचना-पद्धति मे अन्तर है। जबकि ब्राह्मी मे बडे अंक बायीं ओर को लिखे जाते है, खरोष्ठी और सेमिटिक मे वे, इसके विपरीत, दाहिनी ओर को लिखे जाते है। इस प्रकार २७४ को ब्राह्मी मे, २००, ७० और ४ के चिह्नों की सहायता से, (२००) (७०) (४) द्वारा सूचित करेंगे, जबकि खरोष्ठी और सेमिटिक मे (४) (७०) (२००) के द्वारा।[3]

उनकी उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त

ब्राह्मी अंकों की उत्पत्ति समझाने के लिए बहुत से सिद्धान्त उपस्थित किये जा चुके है। इन सिद्धान्तों मे ब्राह्मी अकों और अन्य राष्ट्रों के अंकों के बीच सादृश्य की कल्पना की गयी है। अपने-अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए लेखकों ने अन्य राष्ट्रों के अंकों मे घुमाव-फिराव, जोड़-जाड़, और काट छाँट भी की है। कहने की आवश्यकता नही कि इन सिद्धान्तों में से प्रत्येक के समर्थक भी थे जो उनकी सत्यता मे पूर्ण विश्वास रखते थे। नीचे हम इन सिद्धान्तों मे से कुछ की रूप-रेखा दे रहे है :

(१) कनिंघम[4] महोदय का विश्वास था कि भारतवर्ष के रहनेवाले प्राचीनतम ज्ञात काल से लिखना जानते थे, तथा उनकी प्राचीन वर्णमाला चित्रात्मक थी। उनकी धारणा थी कि ब्राह्मी लिपि कदाचित् प्रारंभिक चित्रात्मक लेखन से निकली

[1] **मिस्र देश की एक प्राचीन लिपि।**
[2] **मिस्र देश की प्राचीन दो लिपियाँ।**
[3] **खरोष्ठी में लिखे उसी अंक से तुलना कीजिए। देखिए पृ० २१।**
[4] **अशोक के शिलालेख,** कॉर्पस इंस्क्रिप्टिओनम इंडिकेरम, **जिल्द १, पृ०५२।**

है। यह सिद्धान्त स्पष्टतः अंक-संकेतों पर भी लागू किया जा सकता है। तो भी बाद के पुरालेख-विदों ने इस सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया, इस आधार पर कि यह उन्हें अत्यधिक कपोल-कल्पित मालूम होता था। कनिंघम की, भारतवर्ष में लेखन की प्राचीनता से संबंध रखनेवाली, उपर्युक्त साहसपूर्ण कल्पना को ४००० ई० पू० की उस चित्रवत लिपि ने यथार्थ सिद्ध कर दिया है जो मोहेनजो-दड़ो और हड़प्पा में खुदाई से प्राप्त कुछ मुहरों और लेखों में मिली है। कनिंघम के सिद्धान्त को लैंगडन महोदय ने पुनर्जीवित किया है। लैंगडन के मत से ब्राह्मी लिपि का मोहनजो-दड़ो की चित्रात्मक लिपि से उत्पन्न होना सम्भव है।[1] परन्तु चूंकि मोहेनजो-दड़ो के लेख अभी तक पूर्ण रूप से पढ़े नहीं गये हैं, इसलिए लैंगडन का सिद्धान्त अभी अधूरा ही है। अभी इसे अनुमान-मात्र ही कहा जा सकता है। ब्राह्मी अंक-संकेतों के विकास के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में मोहेनजो-दड़ो की लिपि से अंक-संकेतों का अलग करना ही एक टेढ़ी समस्या है। [यदि यह कल्पना कि पृष्ठ १७ पर दिये हुए आकार अंक-संकेत हैं सत्य भी हो, तो भी यह सिद्धान्त प्रतिपादित करना संभव न होगा कि ब्राह्मी अंकों की उत्पत्ति उन्हीं अंकों से हुई है।

(२) बेली[2] महोदय के कथनानुसार ब्राह्मी लिपि के मुख्य सिद्धान्त मिस्र देश] के हिएरोग्लिफिक संकेत के आधार पर बने हैं, और अधिकांश भारतीय आकार फिनिशियन, बैक्ट्रियन तथा अक्केडियन स्वरूपों या अक्षरों की नकल है। जैसा पहले बताया जा चुका है[3], ब्राह्मी और हिएरोग्लिफिक के सिद्धान्तों में नितान्त विषमता है—कोई संबंध नहीं। हिएरोग्लिफिक और ब्राह्मी के अंक, सारिणी २ (अ), २ (ब) और २ (स) में साथ-साथ दिये गये है, पाठक उन्हें देखकर बेली महोदय के कथन की असत्यता का स्वयं अनुभव कर सकते हैं। पुनश्च, इस कल्पना पर विश्वास करना कि हिन्दुओं ने अपने अंक-संकेतों को चार-पाँच, कुछ अत्यंत प्राचीन और कुछ

[1] मोहेनजो-दड़ो इत्यादि, अध्याय १२। हंटर (पूर्वोक्त, पृ० ४६०) ने इस मत का जोरदार समर्थन किया है।

[2] जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द १५, भाग १, पुनर्मुद्रण, लंदन, १८८२, पृ० १२ और १७। इस सिद्धान्त का टेलर ने समर्थन किया था। देखिए, दि ऐल्फाबेट, लंदन, १८८३, जिल्द २, पृ० २६५-६६।

[3] देखिए पृष्ठ २४-२५।

अपेक्षाकृत अधिक नवीन, सूत्रों से लिया है अत्यंत कठिन है। बैक्ट्रियन और अक्के-डियन अंकों और ब्राह्मी आकारों के सादृश्य के संबंध में, जिसकी बेली महोदय ने कल्पना की है, बूलर महोदय का कथन है कि चार अवस्थाओं में (अर्थात् ४, ६, ७ और १० अंकों के आकारों में) वास्तविकता बेली महोदय की कल्पना के नितान्त विरुद्ध है। कुछ लेखकों ने बेली महोदय द्वारा दिये हुए आकारो में, उनके सिद्धान्त से प्रभावित होने का भी दोष लगाया है।[1] इन सब कारणों से बेली महोदय का सिद्धान्त त्याज्य है।

(३) बर्नेल महोदय[2] के मतानुसार भारतीय पद्धति के सिद्धान्तों और मिस्र देश के डेमोटिक संकेत के सिद्धान्तों मे सामान्य रूप से सादृश्य है। इन्होंने १ से लेकर ९ तक अंकों के डेमोटिक चिह्नों तथा उन्हीं अंकों के भारतीय चिह्नों के सादृश्य का कथन किया है, और यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि हिन्दू लोगों ने इन अंकों को डेमोटिक लिपि से लिया और बाद में उनका सुधार करके उन्हें अक्षरों में परिवर्तन कर लिया।

(४) बूलर महोदय[3] ने बर्नेल के सिद्धान्त का एक परिष्कृत रूप उपस्थित किया है। वे लिखते है, "मुझे यह सम्भव प्रतीत होता है कि ब्राह्मी अंक मिस्र देश के हिएरेटिक आकारों के आधार पर बनाय गये है, और यह कि हिन्दू लोगों ने उन्हें अक्षरों मे रूपान्तरित कर लिया, क्योंकि वे पहले से ही अंकों को शब्दो द्वारा सूचित करने मे अभ्यस्त थे।"

बर्नेल और बूलर के सिद्धान्त भी बेली के सिद्धान्त की भाँति साधु-मूलक नहीं है। सारिणी २(अ), २(ब), २(स) में ब्राह्मी के साथ-साथ हिएरेटिक और डेमोटिक संकेत दिये हुए हैं। इन सारिणियों की परीक्षा करने पर विदित होगा कि १ से लेकर १०० तक के अंकों को सूचित करनेवाले १९ संकेतों मे से, ब्राह्मी के केवल ९ संकेत डेमोटिक अथवा हिएरेटिक के संगत संकेतों के अनरूप है। अन्य संकेतों के बीच किसी प्रकार का सादृश्य नहीं है। हिएरेटिक संकेत के ५ एवं ब्राह्मी के ७ के बीच होने वाले रूप-सादृश्य पर व्युत्पत्ति

[1] **बूलर,** ऑन दि आरिजिन ऑव दि इंडियन ऐल्फाबेट, **स्ट्रासबुर्ग, १८९८,** पृ० ५२, ५३ **फुटनोट।**

[2] **देखिए स्मिथ और कार्पिस्की,** हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स, **पृ० ३०-१।**

[3] **बूलर,** पूर्वोक्त, **पृ० ८२।**

का आधार स्थापित करना नितान्त अनर्गल है। इसी प्रकार अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए डेमोटिक एवं हिएरेटिक आकारों का घुमाव-फिराव भी ग्राह्य नहीं है।

इन पद्धतियों में एक समानता अवश्य है कि प्रत्येक में १ से लेकर १०० तक के अंकों को सूचित करने के निमित्त केवल १९ चिह्न ही प्रयुक्त किये गये हैं; और इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु सैकड़ों (१००, २०० इत्यादि) और हजारों (१०००, २०००, इत्यादि) को सूचित करनेवाले चिह्नों की बनावट में भिन्नता है। ब्राह्मी में २०० और ३०० को सूचित करनेवाले संकेत बनाने के लिए १०० के संकेत के दाहिनी ओर क्रम से १ और २ मात्राएँ लगा देते हैं; इसी प्रकार २००० और ३००० को सूचित करनेवाले संकेत बनाने के लिए १००० के संकेत के दाहिनी ओर क्रम से १ और २ मात्राएँ लगा देते हैं जो कि नीचे के चित्र से स्पष्ट है:

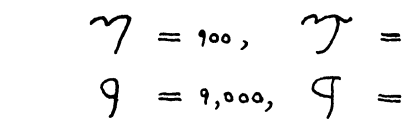

४०० और ४००० को सूचित करनेवाले संकेत, १०० और १००० को सूचित करनेवाले संकेतों के दाहिनी ओर (४) जोड कर बनाये जाते हैं, जैसा कि नीचे के चित्र में है:—

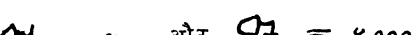

हिएरेटिक पद्धति के संगत संकेत ये हैं:

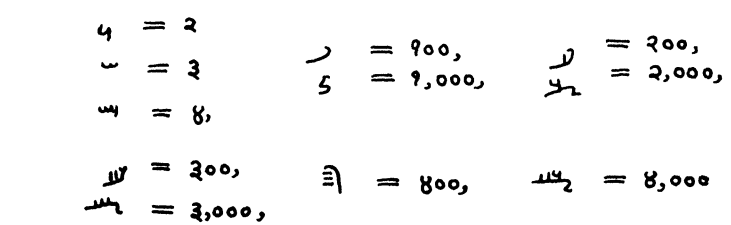

पाठक देखेंगे कि हिएरेटिक पद्धति में १००० सूचक संकेत अन्य सहस्र-सूचक संकेतों के बनाने में प्रयुक्त नहीं किया गया है। यदि सिद्धान्त-सादृश्य पूर्ण रूप से भी होता, तो भी हम यह मानने को बाध्य न होते कि एक राष्ट्र ने दूसरे का अनुकरण किया है। १९ संकेतो का प्रयोग कदाचित् अंकों को व्यंजित करने की सरल एवं सर्वोत्कृष्ट रीति थी, और सम्भव है कि जो बात मिस्रवालों को सरल प्रतीत हुई हो वही स्वतंत्र रूप से भारतवासियों को भी वैसी ही प्रतीत हुई हो।

इसके विपरीत कुछ कारण ऐसे है जिनसे मालूम होता है कि मिस्रवालों ने हिएरेटिक एवं डेमोटिक पद्धतियों को अन्य देशों, कदाचित् भारतवर्ष, से प्राप्त किया था। यह विचार असंगत नहीं है, क्योंकि यह संभव है कि १९ संकेतों के आधार पर आश्रित भारतीय अंक-सिद्धान्त का आविष्कार १००० ई० पू० के लगभग हुआ हो। यह बात तो ज्ञात ही है कि मिस्र की प्राचीन अंकमाला मे केवल चार संकेत है, जो १, १०, २० और १०० अंकों को सूचित करते है। इस प्राचीन प्रणाली मे एक आकस्मिक परिवर्तन करके १९ संकेतोंवाली दूसरी प्रणाली ग्रहण करने का कारण उचित रीति से तब तक नहीं समझाया जा सकता जब तक विदेशी प्रभाव की कल्पना पहले ही से न कर ली जाय। पुनश्च २, ३ और ४ को सूचित करनेवाले, घसीट मे लिखे हुए, आकार दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जानेवाली हिएरेटिक एवं डेमोटिक लिपियों के अनुकूल नहीं है। यद्यपि इन आकारों का प्राचीन हिएरोलिफिक और फिनिशियन आकारों से संबंध है, तो भी यह सम्भव है कि इन आकारों का प्रयोग, नवीन प्रणाली के १९ संकेतों की आवश्यकता के निवारणार्थ, ऐसे लोगों के प्रभाव के कारण हुआ जिनकी लिपि बायीं ओर से दाहिनी ओर को हो। तो भी यह कह देना उचित होगा कि हिएरेटिक प्रणाली की भारतीय उत्पत्ति की कल्पना केवल एक सुझाव है। उपर्युक्त दो बातें, जब तक उनकी अन्य प्रमाणो से पुष्टि न हो जाय, एक नवीन सिद्धान्त उपस्थित करने के लिए स्वयं पर्याप्त नहीं है। आशा की जाती है कि आगे होनेवाले अनुसंधान इस विषय पर प्रकाश डालेगे।

अक्षर संकेत से सम्बन्ध

१८३८ ई० में जेम्स प्रिंसेप महोदय[1] ने यह सुझाव दिया था कि अंक-संकेत,

[1] **'एकजामिनेशन ऑव इंस्क्रिप्शंस फ्रॉम गिरनार इन गुजरात, एण्ड धौली इन कटक'**, जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, १८३८।

अंक-संज्ञाओं के प्रारम्भिक अक्षरों के आधार पर बने हैं। परन्तु अंक-संज्ञाओं के उच्चारण जान लेने पर, हम देखते हैं कि ऐसी बात नहीं है। अन्य अन्वेषकों का मत है कि अंक-संकेतों की बनावट, प्राचीन वर्णमाला के क्रम के अनुसार लिखे हुए अक्षरों पर आधारित है। यद्यपि अंकों को व्यंजित करने के लिए अक्षरों का प्रयोग आठवीं शताब्दी ई० पू० पहले तक हुआ है,[1] एवं अक्षर-संकेत की अन्य पद्धतियाँ बाद में आविष्कृत हुईं[2] और सामान्य रूप से प्रयोग में आयीं, तो भी हम उक्त कल्पना का त्याग करने पर विवश हैं क्योंकि प्राचीन अंक-संकेतों और वर्णमाला के अक्षरों के बीच किसी प्रकार का सादृश्य नहीं दिखाया जा सकता।

कुछ प्राचीन हस्तलिपियों के पत्रांकन में, और कुछ सिक्कों तथा कुछ अन्तर्लेखों में एक विलक्षण अंक-संकेत का प्रयोग मिलता है, जिसमें स्पष्टतः वर्णमाला के स्वरों और व्यंजनों का प्रयोग किया गया है। तो भी प्रयुक्त चिह्न सदैव एक तरह के नहीं हैं; बहुधा उनमें कुछ अन्तर मिलता है, जो कदाचित् अंक संकेत और अक्षर-संकेत की विषमता सूचित करने के लिए किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये चिह्न अक्षरों से बने हैं, क्योंकि जैनियों ने इस पद्धति को, दशमलव संकेत (अंकपल्ली) से पृथक् करने के लिए, अक्षर-पल्ली की संज्ञा दी है।[3]

अक्षर-पल्ली के प्रयोग से इस बात का सुझाव मिलता है कि कदाचित् प्राचीन ब्राह्मी अंक-संकेत भी ब्राह्मी वर्णमाला के स्वरों एवं व्यंजनों के आधार पर बने हों।

अंकों और अक्षर-स्वरूपों की विस्तृत समीक्षा का निष्कर्ष निम्नलिखित है:[4]

अंक, १, २, और ३ जो पहले बेड़ी रेखाओं से सूचित किये जाते थे, किसी भी अक्षर से सादृश्य नहीं रखते। कदाचित् वे मात्राओं के आधार पर बनाये गये हैं।

४—इस अंक का प्राचीनतम आकार, जो अशोक के अन्तर्लेखों में मिलता है, 'क' अक्षर के सदृश है। नानाघाट और नासिक की गुफाओं में मिलनेवाला

[1] ऐसा प्रयोग कदाचित पाणिनि ने भी किया है। देखिए पृ० ५८।

[2] आगे पृ० ५९ इत्यादि, देखिए।

[3] बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ७८। अक्षरपल्ली का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है; देखिए पृ० ६७ इत्यादि।

[4] अंकों के विभिन्न आकारों के लिए, देखिए सारिणी ३ से लेकर सारिणी १३ तक।

आकार 'क्क' के सदृश है। 'ल्न', 'ल्क', 'ट्क' और 'प्कृ' अक्षरों से मिलते हुए आकार भी पाये जाते हैं, परन्तु ऐसे आकार अधिकांश में अर्वाचीन अन्तर्लेखों में ही मिलते हैं।

५ — अधिकांश अन्तर्लेखों में यह अंक 'तृ' अक्षर से मिलता है। परन्तु 'त', 'ता', 'पु', 'हु', 'रु', 'तृ', 'तृआ', 'ना', 'न' 'ह्', 'ह्न' और 'ह' के सदृश आकार भी मिले हैं।

६ — अधिकांश अन्तर्लेखों में यह अंक 'फ्र' अक्षर के सदृश है, परन्तु कुछ अन्तर्लेखों में 'फ्रा', 'फ', 'फ','ज,' और 'हा' के सदृश आकार भी मिले हैं। इस अंक के विषय में अधिक सादृश्य नहीं है।

७ — अधिकांश अन्तर्लेखों में यह अंक 'ग्र' अथवा 'गु' अक्षर के सदृश है, परन्तु कुछ में इसका आकार 'ग' की तरह है।

८ — यह अंक अधिकतर 'ह्न' अथवा 'ह्रा' अक्षर से मिलता है, परन्तु कुछ अन्तर्लेखों के आकार किसी अक्षर से नही मिलते।

९ — इस अंक के प्राचीनतम आकार, जो नानाघाट, कुषान एवं क्षत्रप अन्तर्लेखों में मिलते हैं, किसी भी अक्षर के सदृश नहीं कहे जा सकते। बाद के आकार कदाचित् 'उ' अक्षर अथवा 'ॐ' के सदृश हैं।

१० — इस अंक के प्राचीनतम आकार भी किसी अक्षर से नही मिलते, यद्यपि बाद के आकार 'रघ, 'ह्', 'ह्', 'ख' और 'ठु' या 'ठ' से मिलते-जुलते कहे जा सकते हैं।[1]

२० — इस अंक के सभी आकार 'थ' अक्षर के सदृश हैं।

३० — इस अंक के सभी आकार 'ल' अक्षर के सदृश है।

४० — इस अंक के सभी आकार 'प्त' अथवा 'स' से मिलते है।

५० — इस अंक के आकार अनुनासिक से मिलते हुए कहे जा सकते है।

६० — इस अंक के आकार 'पु', 'प' और 'प्र' से मिलते है।

७० — इस अंक के आकार 'पु', 'प्त', 'प्र', 'प्रा' अथवा 'ह्न' के सदृश है।

८० — इस अंक के आकार उपध्मानीय चिह्न की तरह है।

९० — इस अंक के आकार भी उपध्मानीय चिह्न की तरह है, परन्तु इसमें बीच में क्रास का चिह्न भी मिलता है।

[1] यह बूलर का मत है। देखिए, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ८०।

१०० — अधिकांश अन्तर्लेखों में यह अंक 'सु' से मिलता है, परन्तु कुछ अन्तर्लेखों में इसका आकार 'अ' की तरह है।

इंद्रजी का मत

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि :—

(१) ६ और १०, तथा १, २, और ३ अंकों के प्राचीन आकारों को कोई ध्वनि-मान नहीं दिया जा सकता।

(२) ७ और ९ को छोड़कर, अन्य अंकों के आकारों की ध्वनियों में अत्यधिक अन्तर है।

(३) ७० को छोड़कर, जिसके आकारों में अत्यधिक विषमता है, अन्य दहाई-सूचक अंकों की ध्वनियाँ प्रायः निश्चित हैं।

इस प्रकार, १, २, और ३ अंकों को छोड़ देने पर, हम देखते हैं कि शेष १६ अंकों में से दो अंकों (अर्थात् ६ और १०) की अक्षरों से समता नहीं की जा सकती[1]; तीन अंकों (अर्थात् ७, ९ और ७०) के ध्वनिमानों में अत्यधिक विषमता है, और शेष ११ अंकों के ध्वनिमान प्रायः निश्चित हैं। इन तथ्यों के आधार पर पंडित भगवानलाल इंद्रजी ने यह मत उपस्थित किया है कि ब्राह्मी अंक-संकेतों की उत्पत्ति ब्राह्मी वर्णमाला के अक्षरों से हुई है, तथापि पंडितजी ने स्वीकार किया है कि वे यह जानने में असमर्थ हैं कि इस विषय में किस सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है। और यह बात अब तक किसी अन्य विद्वान को भी नहीं ज्ञात हो सकी है। वस्तुतः इस समस्या का तब तक कोई हल नहीं दिखायी पड़ता, जब तक अशोक के पूर्व की ऐसी अन्तर्लेख-सम्बन्धी सामग्री नहीं प्राप्त होती जिसमें अंकों का प्रयोग हुआ हो। अशोक के समकालीन एवं परकालीन अन्तर्लेखों में प्रयुक्त आकार इतनी अधिक उन्नत अवस्था में हैं और अपने उद्भवकाल से इतने अधिक समय बाद के हैं कि वे अपनी उत्पत्ति के विषय में कोई वांछित सूचना नहीं देते।

परन्तु समय-समय पर जो मत उपस्थित किये गये हैं उन सबमें से पंडित इंद्रजी का मत हम लोगों को सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होता है। हिन्दू लोग चौथी

[1] इनकी 'ज', 'स', 'फ्र', इत्यादि से, तथा 'ठु', 'ठ', इत्यादि से समता, जो बूलर (पूर्वोक्त, पृ० ८०) ने कल्पित की है, हमको बहुत ठीक नहीं जँचती।

शताब्दी ई० पू० में लिखना जानते थे। लगभग २००० ई० पू० में वे १०[१] जैसे बड़े अंकों का प्रयोग करते थे, और उस समय के पश्चात् उन लोगों के धर्म और विज्ञानों ने बड़े अंकों के प्रयोग को आवश्यक बना दिया है। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध ने छठी शताब्दी ई० पू० में १०[१४] जैसे बडे अंकों के लिए संज्ञाओं की रचना की थी, और आगे चलकर इस अंक-परम्परा की पुनर्वृद्धि की गयी थी।[१] इन तथ्यों से उस अवस्था का उद्घाटन होता है जो अंकगणित के अत्यधिक विकास के बिना असम्भव है। यह तो निश्चित है कि प्राचीनतम काल से ही हिन्दुओं ने इन अंकों को लिखने की किसी प्रणाली की आवश्यकता अवश्य प्रतीत की होगी। अतएव यह निष्कर्ष निकालना कि हिन्दुओं ने ब्राह्मी अंक-प्रणाली का आविष्कार किया, ऐतिहासिक प्रमाणों के प्रतिकूल न होगा। इस निष्कर्ष को इस बात से अनुमोदन मिलता है कि अंकलेखन मे मात्राओं तथा अनुनासिक एवं उपध्मानीय चिह्नों का प्रयोग हुआ है जो प्राचीन एवं अर्वाचीन लिपियों में से केवल संस्कृत लिपि मे ही मिलते है। इसे इस बात से और भी बल मिलता है कि हिन्दू, जैन तथा बौद्ध-परम्पराएँ ब्राह्मी लिपि और अंक-संकेत को सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का आविष्कार मानती है, और तदनसार इसे अत्यन्त प्राचीन राष्ट्रीय आविष्कार प्रतिपादित करती है।[२]

आविष्कार का समय

ब्राह्मी अंकों के आविष्कार का समय १००० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक निर्धारित किया जा सकता है। क्योंकि अशोक-कालीन अंकों से विदित होता है कि ब्राह्मी अंक-प्रणाली समस्त भारत मे सामान्य रूप से प्रचलित थी[३] और इसके पीछे एक बड़ा इतिहास जुड़ा हुआ है, अतएव नीचे की अवधि, १००० ई० पू०, निश्चय ही अधिक प्राचीन नहीं है। इसके विपरीत, अन्य बातें, जैसे अत्यन्त प्राचीन काल मे कलाओं एवं विज्ञानों का उच्च विकास, बौद्ध

[१] देखिए पृ० १०-१२।

[२] बूलर ने अनेक प्रमाण उद्धृत किये है, (पूर्वोक्त। पृ० १, फुटनोट)। इनमें से नारद-स्मृति और जैन आगम ग्रंथ समवायांग-सूत्र चौथी शताब्दी ई० पू० के हैं।

[३] मेगस्थनीज ने सड़क पर लगे हुए मील के पत्थरों की चर्चा की है जो दूरियों तथा निवेश-स्थानों की सूचना देते थे। देखिए इंडिका ऑव मेगस्थनीज, पृ० १२५-१२६; बूलर, पूर्वोक्त।

साहित्य में अंक-चिह्नों की चर्चा[1] और बड़ी-बड़ी संख्याओ का प्रयोग, सभी निर्देश करती हैं कि ब्राह्मी अंक-प्रणाली का आविष्कार यदि अधिक पहले नहीं तो १००० ई० पू० के लगभग अवश्य हुआ होगा।

सारांश

पंडितजी के सिद्धान्त की पुष्टि इस तथ्य में है कि १९ आकारों मे से ११ आकार तो निश्चित रूप से ब्राह्मी लिपि के अक्षरों अथवा चिह्नों के सदृश है। यह सादृश्य इतना विलक्षण है कि पूर्णतया आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। पुनश्च, यह भी देखा गया है कि अंकों के आकारों ने उस परिवर्तन का निरन्तर अनुकरण किया है जो अक्षरों के आकारों में शताब्दी-प्रति-शताब्दी हुआ है। यह बात विशेषकर दहाइयों के लिए सत्य है और दर्शित करती है कि प्राचीन अन्तर्लेखों के लेखक इन आकारों के ध्वनिमान से अवगत थे। इकाइयों के चिह्न, अक्षरों के आकारो से कदाचित् इसलिए भिन्न है कि उनका आविष्कार सबसे पहले हुआ था और वे अधिक प्रचार मे थे, अतएव वे घसीट मे लिखे जाने लगे तथा अक्षरों के आकारों में होनेवाले परिवर्तन का उन्होने अनुकरण नहीं किया।

अब हम इस परिच्छेद में वर्णित विषय का निम्न साराश दे सकते है: (१) ब्राह्मी अंक निस्सन्देह भारतीय आविष्कार है, (२) दहाइयों के चिह्न वर्णमाला के अक्षरों से बनाये गये है, और (३) इकाइयों के चिह्नों की उत्पत्ति सन्देहास्पद है। संभव है कि वे भी वर्णमाला के अक्षरों के आधार पर बने हों, परन्तु जब तक अशोक के पहले के अंक-चिह्न उपलब्ध नहीं होते तब तक इस कथन की वास्तविकता सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है।

८. दशमलव स्थान-मान पद्धति

महत्त्वपूर्ण लक्षण

तीसरा परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण, हिन्दू अंक-संकेत दशमलव स्थानमान संकेत है। इस पद्धति में दस चिह्न है, जो एक से लेकर नौ तक

[1] ललित विस्तर में वर्णित, संस्कृत मूल तथा ३०८ ईसवी के चीनी अनुवाद दोनों में। जैन ग्रंथ समवायांग सूत्र (ल० ३०० ई० पू०) और पन्नवना-सूत्र (लगभग १६८ ई० पू०), प्रत्येक में १८ लिपियों की एक सूची दी हुई है। देखिए वेबर, इंडिशे स्टुडियन, १६, २८०, ३९९।

संख्याओं तथा शून्य को सूचित करते हैं और अंक कहलाते हैं। स्थान-माप सिद्धान्त का प्रयोग करके सभी संख्याओं को सरलता से लिखने के लिए ये दश अंक बिलकुल पर्याप्त हैं। लिखने का आधार निस्सन्देह दश है। यह पद्धति अब सम्पूर्ण जगत में सामान्य रूप से प्रचलित है। शून्य और स्थान-मान सिद्धान्त के बिना, हिन्दू अंक उसी प्रकार के अन्य अंकों से न तो श्रेष्ठ ही होते और न संसार के सभ्य लोगों में उनका आदर ही होता। शून्य की महत्ता के सम्बन्ध में प्रोफेसर हैल्स-टेड लिखते हैं, "शून्य के आविष्कार के महत्त्व की कभी भी अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। निरर्थक शून्य को केवल स्थान, संज्ञा, आकृति, एवं संकेत ही नहीं बल्कि एक उपयोगी शक्ति प्रदान करना हिन्दू जाति की, जहाँ से इसकी उत्पत्ति हुई है, एक विशेषता है। यह निर्वाण को विद्युत्शक्ति में परिवर्तित करने के सदृश है। गणित-सम्बन्धी कोई भी एक आविष्कार ज्ञान एवं शक्ति को आगे बढ़ाने में इतना प्रबल नहीं सिद्ध हुआ है।"[1]

आकार

एक दूसरे से भिन्न अनेक लिपियाँ आज भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में प्रचलित हैं। इन लिपियों में अंकों के आकार भी एक दूसरे से भिन्न हैं। यद्यपि सभी हिन्दू लिपियाँ एक ही मूलस्रोत, ब्राह्मी लिपि, से निकली हैं, तो भी विभिन्न आधुनिक लिपियों के आकारों में इतना अधिक भेद है कि यदि उनका प्राचीन इतिहास न ज्ञात होता तो उनके बीच में सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जाता। उपर्युक्त कथन अंक-चिह्नों के विषय में भी लागू होता है, जैसा कि सारिणी १५ में दिये गये अंक-चिह्नों की सूची के अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा। अंक-चिह्नों में इतना अधिक भेद यह प्रदर्शित करता है कि भारत-वर्ष में भिन्न-भिन्न लिपियों के प्रयोग में आने के पहले ही लोग शून्य और स्थान-मान का प्रयोग जानते थे, और वर्णमाला के अक्षरों की भाँति ही अंक-चिह्न भी भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में स्वतन्त्र रीति से परिष्कृत किये गये थे। और क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में आकारों में किये गये परिवर्तन एक दूसरे से स्वतन्त्र थे, इसलिए आधुनिक आकार एक दूसरे से इतने अधिक भिन्न हो गये हैं।

[1] **जी० बी० हैल्सटेड**, ऑन दि फाउन्डेशन ऐण्ड टेकनीक ऑव अरिथमेटिक, **शिकागो, १९१२, पृ० २०।**

यह भेद ग्यारहवीं शताब्दी में भी पहले से विद्यमान था जैसा कि अलबेरूनी के निम्न कथन से स्पष्ट है: 'जिस प्रकार भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में अक्षरों के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं, उसी प्रकार अंकों के चिह्न भी एक दूसरे से भिन्न है।'[१]

नागरी लिपि के आकार

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अत्यन्त प्रचलित अंक-चिह्न नागरी लिपि के हैं। इस चिह्न के आधुनिक आकार निम्नलिखित है :—

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०

इन आकारों का ब्राह्मी अंकों से क्रमिक विकास कैसे हुआ, सारिणी १४ में दर्शित किया गया है।

पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण

नीचे हम दसवीं शताब्दी तक मिलनेवाले उन अन्तर्लेखों तथा दानपत्रों की सूची दे रहे है जिनमें दशमलव स्थान-मान संकेत का प्रयोग करके अंक लिखे गये है। इस काल के बाद के अन्तर्लेखों तथा दानपत्रों मे अंक लिखने के लिए सदैव दशमलव पद्धति का प्रयोग किया गया है।

१. ५९४ ई० संखेड़ा से प्राप्त गुर्जरों का दानपत्र (एइं,[२] २, पृ० १९)। इसका काल, चेदि संवत् ३४६, दशमलव स्थान-मान संकेत में दिया है।

*२. ६४६ ई० बेल्हारी का लेख, (जए[३], १८६३)।

*३. ६७४ ई० कन्हेरी का लेख, (जए, १८६३, पृ० ३९२)।

४. ८वीं शताब्दी जयवर्धन द्वितीय का रघोली का दानपत्र, (एइं[४], ९, पृ० ४१)। अंक ३० दशमलव संकेत मे दिया है।

५. ७२५ ई० ब्रिटिश म्यूजियम में संगृहीत संस्कृत के दो दानपत्र, (इंऐं[५], १३, पृ० २५०)। इनके काल, संवत् ७८१ (=७२३ ई०) और संवत् ७८३ (=७२५ ई०), दशमलव संकेत में दिये है।

[१] भारत, अलबेरूनी-कृत, जिल्द १, पृ० ७४।
[२] एइं=एपिग्रैफिया इंडिका।
[३] इंऐं=इंडियन ऐंटिक्वेरी।
[४] जए=जर्नल एशियाटिक।

*६. ७३६ ई० धिनिकी ताम्र दानपत्र, (इंऐं, १२, पृ० १५५)। इसका काल, संवत् ७९४, दशमलव संकेत में है।

७. ७५३ ई० देवेन्द्रवर्मन् का चिकाकोल का दानपत्र, (एइं, ३, पृ० १३३)। अंक २० दशमलव संकेत में लिखा है।

८. ७५४ ई० दंतिदुर्ग का राष्ट्रकूट दानपत्र, (इंऐं, ११, पृ० १०८)। इसका काल, शक ६७५, दशमलव संकेत में दिया है।

९. ७९१ ई० सामन्त देवदत्त का अन्तर्लेख, (इंऐं, १४, पृ० ३५१)। इसका काल, संवत् ८४७, दशमलव संकेत में है।

१०. ७९३ ई० शंकरगण का दौलताबाद का दानपत्र, (इंऐं, ९, पृ० १९७)। इसका काल, शक ७१५, दशमलव संकेत में दिया है।

११. ८१३ ई० तोरखेड़ा का दानपत्र, (एइं, ३, पृ० ५३; इंऐ, ९, पृ० ३४५)। रचनाकाल, शक ७३५, दशमलव संकेत मे दिया है।

१२. ८१५ ई० नागभट का बुचकला का अन्तर्लेख, (एइं, ९, पृ०१९८)। इसका काल, सं० ८७२, दशमलव संकेत में दिया है।

१३. ८३७ ई० बाउक का अन्तर्लेख, (राजपूताना म्यूजियम, **भारतीय प्राचीन लिपि माला**, पृ० १२७; एइं, १८, पृ० ८७)। इसका काल, संवत् ८९४, दशमलव संकेत मे दिया है।

१४. ८४३ ई० कन्हेरी से प्राप्त अन्तर्लेख, नं० ४३ ब, (इंऐं, ८, पृ० १३३)। इसका काल, शक ७६५, दशमलव संकेत में दिया है।

१५. ८५१ ई० कन्हेरी से प्राप्त अन्तर्लेख, नं० १५, (पूर्ववत्)। इसका काल[1], शक ७७५, दशमलव संकेत में दिया है।

१६. ८५३ ई० ललितसुरदेव का पांडुकेश्वर का दानपत्र, (इंऐं, २५, पृ० १७७)। इसका काल, राजा के राज्यकाल का संवत् २१, दशमलव संकेत में है।

[1] काल की शुद्धि के लिए देखिए इंऐं, २०, पृ० ४२१।

१७. ८६० ई० ककुक का घटियाला का अन्तर्लेख, (एइं, ९, पृ० २७७)। इसका काल संवत् ९१८, दशमलव संकेत में दिया है।

१८. ८६२ ई० भोजराज का देवगढ़ का जैन अन्तर्लेख, (एइं, ४, पृ० ३०९)। काल, संवत् ९१९ और संगत शक ७८४, दशमलव संकेत में है।

१९. ८७० ई० भोजदेव के राज्यकाल का ग्वालियर का अन्तर्लेख, (**आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया**, रिपोर्ट, १९०३-४, प्लेट ७२), यद्यपि इसमें समय नहीं दिया है, तथापि श्लोकों की संख्या, १ से लेकर २६ तक, दशमलव संकेत में है।

२०. ८७६ ई० अल्ला का ग्वालियर का अन्तर्लेख, जो भोजदेव के शासन-काल का है, (एइ, १, पृ० १५९)। इसका काल, संवत् ९३३, तथा संख्याएँ २७०, १८७, और ५० दशमलव सकेत में हैं।

२१. ८७७ ई० कन्हेरी से प्राप्त अन्तर्लेख, नं० ४३ अ, (इंऐं, १३, पृ० १३३)। इसका काल, शक ७९९, दशमलव संकेत में लिखा है।

२२. ८८२ ई० पहोआ का अन्तर्लेख, (इऐं, १, पृ० १८६)। इसका रचना काल, हर्ष संवत् २७६, दशमलव संकेत में दिया है।

२३. ८९३ ई० बालवर्मन् का दानपत्र, (एइं, ९, पृ० १)। इसका काल, वलभी संवत् ९५६, दशमलव संकेत में दिया है।

२४. ८९९ ई० अवनिवर्मन् का दानपत्र, (एइं, ९, पृ० १)। संवत् ९५६ दशमलव संकेत में दिया है।

२५. ९०५ ई० आहर का पाषाण लेख, (**जर्नल युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसायटी**, १९२६, पृ० ८३ और आगे)। इसमें बहुत से काल मिलते हैं, जो सब दशमलव संकेत में लिखे हैं।

२६. ९१० ई० कृष्ण द्वितीय का राष्ट्रकूट दानपत्र, (एइं, १, पृ० ५३)। इसका काल भी दशमलव संकेत में दिया है।

२७. ९१७ ई० संस्कृत और प्राचीन कन्नड [illegible] नं० १७०, (इंऐं, १६, पृ० १७४)। संवत् ९७४ दशमलव संकेत में दिया है। संख्या ५०० भी प्रयोग की गयी है।

२८. ९३० ई० गोविंद चतुर्थ का खंभात का लेख, (एइं, ७, पृ० २६)। शक ८५२ दशमलव संकेत में दिया है।

२९. ९३३ ई० राष्ट्रकूट राजा गोविंदराज चतुर्थ का सांगली का दानपत्र, (इंऐं, १२, पृ० २४९)। शक ८५५ दशमलव संकेत में दिया है।

३०. ९५१ ई० संस्कृत और प्राचीन कन्नड के लेख, नं० १३५, (इंऐं, १२, पृ० २५७)। शक ८७३ दशमलव संकेत में दिया है।

३१. ९५३ ई० यशोवर्मन् का लेख, (एइं, १, पृ० १२२)। संवत् १०११ दशमलव संकेत में दिया है।

३२. ९६८ ई० सियादोनी का पाषाण-लेख, (एइं, १, पृ० १६२)। इस लेख में अनेक संख्याएँ आयी हैं जो दशमलव संकेत में लिखी हैं।

३३. ९७२ ई० अमोघवर्ष का राष्ट्रकूट दानपत्र, (इंऐं, १२, पृ० २६३)। शक ८९४ दशमलव संकेत में दिया है।

दशमलव स्थान-मान संकेत-पद्धति के प्रारम्भिक प्रयोग के पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाण सुदूरपूर्व के हिन्दू उपनिवेशों में मिले हैं।[1] इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण छः अन्तर्लेख हैं, तीन वे जो श्रीविजय में मिले हैं, दो वे जो सुमात्रा के पालमबंग में मिले हैं, और एक वह जो बंका द्वीप में प्राप्त हुआ है। इन अन्तर्लेखों में एक शक ६०५, ६०६ और ६०८ (अर्थात् ६८३ ई०, ६८४ ई० और ६८६ ई०) अंकों में लिखे मिले हैं। अन्य उदाहरण कम्बोडिया के सम्बोर नगर का अन्तर्लेख है, जिसमें शक ६०५ लिखा हुआ मिला है। चंपा द्वीप के पो नगर के अन्तर्लेख में शक ७३५ (=८१३ ई०) का प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त लेखों की कल्पित अविश्वसनीयता

उपर्युक्त सूची में तीस से अधिक ऐसे पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण दिये गये हैं, जो सिद्ध करते हैं कि भारतवर्ष में अंक लिखने के लिए बहुत पहले

[1] **जी० कोदे:, "ए प्रोपो दे लोरिजीं दे शिफ्र आराब,"** बुलेटिन स्कूल ऑव ओरिएंटल स्टडीज (लंदन), ६, १९३१, पृ० ३२३-८।

से स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग होता था। जी० आर० के०,[1] जो स्थान-मान संकेत के अभारतीय होने के सिद्धान्त को मानते हैं, कहते हैं कि इस संकेत के प्रयोग के लेखन सम्बन्धी सभी प्रमाण अविश्वसनीय हैं। कुछ जाली ताम्रपत्रों के आधार पर उनका कथन है कि ग्यारहवीं शताब्दी मे "अपहरण किये हुए दान को पुनः पाने तथा नये दान को नये सिरे से प्राप्त करने का अत्यन्त सुन्दर अवसर मिला", और इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लेखन-सम्बन्धी सभी प्राचीन प्रमाण अवश्य ही अविश्वसनीय होगे। इस प्रकार का तर्क स्वयं ही दोषपूर्ण है और उसके खंडन करने की कोई आवश्यकता नहीं।

अधिकांश ताम्रपत्र वैध लेख हैं, जिनमें उन दानों का वर्णन रहता है, जो धनी व्यक्ति अथवा राजा लोग किसी धार्मिक अवसर पर ब्राह्मणों को देते थे। इन पत्रों में दान देने के अवसर का, दान देनेवाले तथा पानेवाले के नामों का, दी हुई चल और अचल सम्पत्ति का, और दान देने की तिथि का (जो शब्दों में और अधिकतर अंकों में भी दी रहती है) विवरण रहता है। जाल दो प्रकार का हो सकता है: (१) मूल लेख में ही या तो दान देनेवाले या पानेवाले का नाम अथवा अचल सम्पत्ति का विवरण ताम्रपत्र को पीटकर मिटा दिया जाय और उसके स्थान पर नया नाम या नया विवरण लिख दिया जाय। ऐसा जाल आसानी से मालूम किया जा सकता है, क्योंकि जिस स्थान पर ताम्रपत्र पीटा जायगा वहाँ के धरातल में विषमता आ जायगी और दूसरे नयी और पुरानी लिखावट मे अन्तर होगा। (२) एक बिलकुल नया जाली ताम्रपत्र बनाया जा सकता है। ऐसे उदाहरण, यद्यपि बिरले होंगे, तो भी उनका आसानी से पता लगाया जा सकता है, क्योंकि ताम्रपत्र में अंकित तिथि और ताम्रपत्र में लिखे हुए अक्षरों के आकारो के आधार पर निर्धारित तिथि में स्पष्ट अन्तर रहेगा। इस प्रकार के जाली ताम्रपत्रों के सम्पादन में हीनता होती है, तथा वंश के वर्णन या अन्य ऐतिहासिक तथ्यों में भी अशुद्धियाँ रहती है।

ताम्रपत्र-विशेषज्ञों को जाली ताम्रपत्रों का पता लगाने में अब तक कोई कठिनाई नहीं पड़ी है। हम यहाँ यह बता दें कि हमारी सूची में सम्मिलित

[1] "नोट्स ऑन इंडियन मैथेमेटिक्स," जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, (नई श्रेणी, १९०७), जिल्द ३, पृ० ४८२-८७।

दानपत्रो की असलियत में किसी ताम्रपत्र-विशेषज्ञ ने किसी प्रकार का सन्देह नहीं प्रकट किया है।'

के महोदय ने अपने लेख मे, जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, १८ शिला-लेखो और दानपत्रों की एक सूची दी है और उनमे से दो को छोड़कर शेष १६ को जाली बताया है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने जो तर्क उपस्थित किये है तथा जिन तथ्यों का कथन किया है, अधिकतर अशुद्ध और भ्रमात्मक है, अतएव उनके निष्कर्षों को स्वीकार नही किया जा सकता। उनके तर्क करने का ढंग दिखाने के लिए, उदाहरण के तौर पर, गुर्जरों के दानपत्र पर (जो हमारी सूची मे पहले नम्बर पर है) उनकी आलोचना उद्धृत कर रहे है। वे लिखते है: 'डा० बूलर ने चेदि सवत ३४६ (=५९४ ई०) के गुर्जरो के दानपत्र को यह कहकर उद्धृत किया है कि यह सबसे पहला लेख है जिसमे दशमलव संकेत का प्रयोग मिलता है। (i) इस दानपत्र (एइ, २, पृ० २०) की परीक्षा करने पर यह सम्भावना प्रतीत होती है कि उसमें दिये हुए अंक दानपत्र के लिखे जाने के कुछ समय बाद के जोड़े हुए है दानपत्र में दिया हुआ समय 'तीन सौ छियालीस' शब्दों और अकों दोनो में है। अक दानपत्र के बिलकुल अत मे दिये है और अत्यन्त असाधारण तौर पर विराम-द्वय द्वारा अलग कर किये गये है। (२) अंक उक्त काल के अकों के सदृश है, लेकिन वे बहुत समय बाद भी प्रचार मे थे, और किसी अन्य उदाहरण मे ऐसे अकों का प्रयोग स्थान-मान के साथ नही हुआ है। (३) इसके अतिरिक्त (अन्य लेखो मे) नौ तिथियाँ पुराने संकेत में भी मिली है, (एइ, ५); उदाहरणार्थ, गुर्जरो के भड़ोच के दानपत्र मे चेदि संवत् ३९१ (=६४० ई०) पुराने सकेत मे दिया है। पुनश्च, कोई अन्य चेदि संवत् ऐसा नहीं मिलता, कम से कम ग्यारहवी शताब्दी के पहले का जो

[1] **यदि इनमे से कोई जाली है भी तो जाल इतना अच्छा किया गया है कि उसका पता नहीं चल सकता। ऐसे दानपत्र यदि हों भी तो उनकी लिखावट मे इतना सुन्दर जाल है कि वह उसी समय का मालूम पड़ता है जिस समय का वह दानपत्र माना जाता है। अतएव जहाँ तक अंकलेखन की रीति से संबंध है उन दानपत्रों की प्रामाणिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, चाहे वे आगे चल कर जाली ही क्यों न सिद्ध कर दिये जायँ, परन्तु इसकी संभावना बहुत कम है। यह ध्यान देने योग्य है कि हमारी सूची में बहुत से पाषाणलेख भी सम्मिलित है, जिनका जाली होना असम्भव है।**

आधुनिक दशमलव संकेत में हो। (४) भारतवर्ष में आधुनिक संकेत-प्रणाली के प्रारंभिक प्रयोग के इस प्रमाण-विशेष की सारहीनता के विषय में दूर की भी कोई सम्भावना नहीं है।"

निम्नलिखित कथन से विदित होगा कि के महोदय के तर्क और उनके निष्कर्ष निराधार एवं अप्रामाणिक हैं :

(१) उक्त दानपत्र (एइं, २, पृ० १९) की परीक्षा करने पर प्रत्येक व्यक्ति को उसकी असलियत पर पूर्ण विश्वास हो जायगा। उसकी लिखावट बड़ी है और साफ है; अंक अंत में लिखे गये हैं और, जैसा होना चाहिए, वे 'तीन सौ छियालीस' शब्दों के ठीक बाद में लिखे गये हैं। पुनश्च, जैसा होना चाहिए, वे खड़ी पाइयाँ लगाकर लिखे हुए शब्दों से अलग कर दिये गये हैं। पृथक्करण की इस रीति में किसी संदेह का किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं है, क्योंकि ऐसी रीति भारतवर्ष में सामान्यरूप से प्रचलित है और प्रायः देखने में आती है। यह भी अच्छी तरह से ज्ञात है कि लेखों के अंत में तिथि लिखने की परिपाटी थी।[1] वस्तुतः, तिथिसूचक अंक प्रायः किसी लेख के अन्त होने की सूचना देते हैं।[2] दोहरी खडी रेखाएँ अन्तर्विराम के चिह्न हैं। यद्यपि प्राचीनतम ज्ञात काल से ही भारतवर्ष में विराम चिह्न का प्रयोग होता रहा है, तो भी अभी हाल तक उसका प्रयोग नियमित अथवा अनिवार्य नहीं था।[3] भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न चिह्नों का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग किया है। अन्तर्लेखों में दोहरी खडी रेखा का प्रयोग वाक्यों के अन्त मे, आधे श्लोक के बाद, पूरे श्लोक के बाद, और बड़े-बड़े गद्यांशों के अन्त में मिलता है। जुनार के अन्तर्लेख में इसका प्रयोग अकों के बाद, और एक बार दान देनेवाले के नाम के बाद भी हुआ है।[4] हस्तलिखित

[1] हमारी सूची में वर्णित अधिकांश ताम्रपत्रों में लेखनकाल अंत में दिया हुआ है।

[2] ऐसी बात हुविष्क के चारगाँव के दानपत्र में (आर्किआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, १९०८-९, दानपत्र ५६), रुद्रदमन के अन्तर्लेख (इंऐं, ८, पृ० ४२) में, तथा अन्य अन्तर्लेखों और दानपत्रों में भी है।

[3] कुछ ताँबे के दानपत्र ऐसे भी हैं जिनमें किसी विराम चिह्न का प्रयोग नहीं मिलता। देखिए, बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, ९०।

[4] बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ८९।

पुस्तकों में अंकों को खड़ी रेखाओं से अलग करने की प्रथा सामान्य रूप से मिलती है। ऐसा प्रयोग बक्षाली हस्तलिपि[1] मे तथा अन्य बहुत सी हस्तलिपियों मे मिलता है। अतएव अंकों का दानपत्रों के अन्त मे लिखा जाना और दोहरी खड़ी पाई का अन्तर्विराम के रूप में प्रयोग, लेख की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट करने का समुचित आधार नहीं माना जा सकता। यह सुझाव कि अंक दानपत्र लिखे जाने के कुछ समय बाद जोड़ दिये गये है अयुक्त है, क्योंकि जब समय पहले ही से शब्दों में लिखा हुआ है तो किसी को क्या प्रयोजन कि वह बाद मे अंक जोड़ने का कष्ट उठावे।

(२) के महोदय मानते है कि दानपत्र के अंक उसी काल के अंकों की तरह है जिस काल का दानपत्र है। परन्तु उनका यह कथन कि वे अंक बहुत समय बाद भी प्रयोग किये जाते थे असत्य है। सारिणी ३–५ और १२ को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि आठवीं शताब्दी के बाद अंक ३ को सूचित करने के लिये तीन पड़ी रेखाओं का प्रयोग नहीं हुआ है। अंक ४ के लिए हमारे दानपत्र में जिस चिह्न का प्रयोग किया गया है, वह छठी शताब्दी के बाद नहीं मिलता; और यही बात अंक ६ के चिह्न के लिए भी सत्य है। इस प्रकार केवल अंक चिह्नों के आकार ही यह सिद्ध कर देते है कि उक्त दानपत्र छठी शताब्दी का लिखा हुआ है, बाद का नहीं।

(३) चेदि संवत् उन ३४ संवतों में है, जिनका प्रयोग अन्तर्लेखों और दानपत्रों में मिला है। प्रस्तुत दानपत्र के बाद के लिखे हुए लेखों में चेदि सवत् के नौ संवतों का प्राचीन पद्धति के अंकों में पाया जाना इस प्रमाणविशेष को अप्रामाणिकता नहीं सिद्ध करता, जैसा कि के महोदय के अनुसार हम लोगों को समझना चाहिये। यह केवल यही प्रदर्शित करता है कि भारतवर्ष में भी (अक-संकेत की) नवीन पद्धति को अपना महत्त्व स्थापित करने के लिये प्राचीन पद्धति के साथ संघर्ष करना पड़ा था, जैसा कि अन्य देशों में देखा गया है। अरब में नवीन पद्धति का प्रचार आठवीं शताब्दी में किया गया था, परन्तु पाँच-छः सौ वर्ष बाद

[1] उदाहरणार्थ, । ५ ।, पत्र २(अ); । २५५८ ।, पत्र २(ब); । ३३० ।, पत्र १७ (ब)। निम्न प्रकार के उदाहरण सामान्य रूप से मिलते हैं: । १ । ४ । ९। १६ ।, पत्र १६ (ब); और । २ ।, । ४ ।, इत्यादि, पत्र ५ (ब)। बहुधा असम्बद्ध अंकों को रेखाओं से अलग नहीं किया गया है। 'उदा' और 'सूत्रम्' इत्यादि शब्दों के पहले और बाद भी दोहरी खड़ी पाइयाँ लगायी गयी हैं।

तक यह सामान्य प्रयोग में नहीं आयी। यूरोप में तो सोलहवीं शताब्दी के पहले जो जनसाधारण नवीन पद्धति का प्रयोग करते थे वे केवल अपवादमात्र थे। इस बात के श्रेष्ठ प्रमाण वहाँ के कलेण्डर (almanacs) हैं। सन् १५५७ से लेकर सन् १५९६ तक के कलेण्डरों में साधारणतः रोमन अंकों का प्रयोग है, और सन् १५७८ वाले क्वेबल के कलेण्डर में हिन्दू अंक रोमन अंकों के साथ गौणरूप से दिये गये हैं।[1]

अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गुर्जर दानपत्र भारतवर्ष में (स्थान-मान युक्त) नवीन पद्धति के प्रयोग का प्रामाणिक उदाहरण है।

कुछ अन्य दानपत्रों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी के महोदय की आलोचना निराधार है। ये दानपत्र हमारी सूची में तारांकित कर दिये गये हैं।

नवीन पद्धति के अविष्कार का स्थान

यह पहले कहा जा चुका है कि १ से लेकर ९ तक के अंकों के वही चिह्न जो भारतवर्ष में प्राचीनतम काल से प्रचार में थे नवीन पद्धति में स्थान-मान संकेत के साथ भी प्रयुक्त किये गये हैं। नवीन पद्धति से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य महत्त्वपूर्ण बात बड़ी संख्याओं की रचना में अंकों का क्रम है। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्राचीन पद्धति में बड़े अंक छोटे अंकों के बायीं ओर लिखे जाते थे।[2] स्थान-मानवाली पद्धति में भी, जिसमें बायीं ओर के अंकों का अपने स्थान के कारण अधिक मूल्य है, वही क्रम है। प्राचीन अंक पद्धति से लेकर नवीन अंक-पद्धति तक होने वाला क्रमिक विकास केवल भारतवर्ष में ही देखा जा सकता है, और यह बात हमारे विचार से नवीन पद्धति की भारतीय उत्पत्ति के पक्ष में सबसे अधिक शक्तिशाली तर्क है। जैसा ऊपर देख चुके हैं, नवीन पद्धति के प्रयोग का सबसे प्राचीन लिखित प्रलेख ५९४ ई० का गुर्जर का दानपत्र है। संसार का कोई भी देश इस पद्धति के प्रयोग का इतना प्राचीन उदाहरण नहीं उपस्थित कर सकता। अतएव आधुनिक अंक-पद्धति की भारतीय उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए केवल यह लिखित प्रमाण ही पर्याप्त है।

[1] स्मिथ और कार्पिंस्की, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १३३।

[2] इससे यह विदित होता है कि किसी अंक के स्थान का निर्धारण उसके मान पर निर्भर रहता था। कुछ लोगों ने इसका यह अर्थ लगाया है कि यह एक प्रकार की स्थान-मान पद्धति थी, परन्तु यह अशुद्ध है।

आविष्कारक अज्ञात

यह पता नहीं कि नवीन पद्धति का जन्मदाता कौन था। यह भी नहीं मालूम कि यह आविष्कार किसी विद्वान-विशेष अथवा ऋषियों की मण्डली द्वारा किया गया था, अथवा किसी विशेष प्रकार के एल्गोरिथम के प्रयोग के कारण होनेवाले क्रमिक विकास का फल था। इसी प्रकार यह भी अज्ञात है कि इस आविष्कार का तथा इसके प्रथम बार प्रयोग किये जाने का श्रेय किस स्थान, नगर, प्रदेश अथवा विद्या के केन्द्र को है। पुरालेख-सम्बन्धी साक्ष्य से इस विषय में कोई सहायता नहीं मिल सकती, क्योंकि अन्तर्लेखों में इसका प्रयोग उस समय हुआ जब कि इसके आविष्कार को हुए बहुत समय हो चुका था, वस्तुतः जब यह आविष्कार उत्तरी भारत में पूर्णतया प्रख्यात हो चुका था।

आविष्कार का समय

दानपत्र वैध प्रलेख होते थे और पेशेवर लोगों द्वारा लिखे जाते थे। ऐसे लेखकों का उल्लेख दक्षिण के बौद्ध आगमों तथा महाकाव्यों में मिलता है।[1] ये लोग 'लेखक', 'लिपिकार' और आगे चलकर 'दिविर', 'करण' और 'कायस्थ' आदि नामों से प्रसिद्ध थे। कल्हण के अनुसार[2], काश्मीर के राजा लोग वैध प्रलेखों के विकर्षण के लिए एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति करते थे जो 'पट्टोपाध्याय' कहलाता था। 'लेख-पञ्चाशिका' और 'लेख-प्रकाश' जैसी पुस्तकों का अस्तित्व, जिनमें साधारण पत्र, भूमि-सम्बन्धी दान-पत्र, सन्धि-पत्र तथा विविध प्रकार के बन्धपत्र और विनिमय-पत्रों (हुंडियों) के विकर्षण की विधियाँ वर्णित हैं, निस्संदेह सिद्ध करता है कि दानपत्रों का लेखन एक विशिष्ट कला थी और इन पत्रों के लिखने की रीति अपने समय से सैकड़ों वर्ष पहले की रही होगी, जैसी कि आजकल के वैध तथा राजकीय प्रलेखों की होती है। अतएव नवीन पद्धति के आविष्कार का समय गुर्जर दानपत्र के रचना-काल (६वीं शताब्दी), जिसमें इसका प्रयोग हुआ है, से कई शताब्दियाँ पूर्व-निर्धारित

[1] बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ५।
[2] राजतरंगिणी, ५, पृ० ३९७ आदि।

करना पड़ेगा। इस आविष्कार का निश्चित काल अन्य देशों के अंक-संकेत के विकास के इतिहास के आधार पर स्थूल रूप से कल्पित किया जा सकता है।

हीथ[1] के अनुसार यूनानी वर्णमाला-संकेत का आविष्कार सातवीं शताब्दी ई० पू० में हुआ था, परन्तु सामान्य रूप से उसका प्रयोग केवल दूसरी शताब्दी से ही हुआ। इस प्रकार उसके प्रसिद्ध होने में ८०० वर्ष लगे। अरब में नवीन संकेत का प्रचलन ८वीं शताब्दी मे किया गया था, परन्तु उसका सामान्य प्रयोग ५ या ६ सौ वर्ष बाद ही हुआ। अरब लोगों को तो गणित के परिकर्मो की प्रयोग-विधि के साथ संपूर्ण दशमलव गणित ऐसे समय में प्राप्त हुई थी जब अरब में बौद्धिक व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर था, फिर भी दशमलव-पद्धति को सामान्य बनाने में उन्हें लगभग ५ या ६ सौ वर्ष लग गये।[2] वैध प्रलेखों मे और ऐतिहासिक तिथियों के अभिलेखन मे अरबवाले आज भी अपने प्राचीन वर्णमाला-सकेत का ही प्रयोग करते हैं।

पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाणों से विदित होता है कि आठवीं शताब्दी मे भारतवर्ष में सामान्य रूप से नवीन पद्धति का प्रयोग होता था, और दशवीं शताब्दी के मध्य तक प्राचीन पद्धति का उत्तरी भारत से लोप हो चुका था। अतएव नवीन पद्धति के आविष्कार का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० और तीसरी शताब्दी के बीच में कहीं रखा जा सकता है। तथापि इस आविष्कार का वास्तविक समय पहली शताब्दी ई० पू० के सन्निकट, अथवा इसके पूर्व ही, रहा होगा, क्योंकि यह पद्धति अपने आविष्कार के बहुत समय बाद तक केवल कौतुक की वस्तु रही होगी और इसका प्रयोग केवल बडी-बड़ी संख्याओं के लिखने मे ही किया जाता रहा होगा। इससे भी अधिक समय जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल आदि गणित के परिकर्मों के नियम बनाने में लगा होगा। और इन नियमों के बन जाने के बाद ही गणितज्ञ लोग इसे अपने प्रयोग में लाये होंगे। उसके बाद भी

[1] हीथ, हिस्ट्री ऑव ग्रीक मैथेमेटिक्स, भाग १, आक्सफोर्ड, १९२१, पृ० ३४।

[2] ११वीं शताब्दी में लिखी गयी अल-खर्की की अंकगणित में दशमलव पद्धति का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय अरब में गणितज्ञों के दो संप्रदाय थे, जिनमें से एक हिन्दू अंकों के प्रयोग के पक्ष में था और दूसरा जिसने प्राचीन अंकों का प्रयोग करना नहीं छोड़ा था। 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' में 'हिसाब' पर एच० सूटर का लेख देखिए।

सामान्य रूप से प्रसिद्ध होने मे इसे लगभग ५०० या ६०० वर्ष लगे होंगे, जैसा कि अरब में हुआ। इस प्रकार इस पद्धति के आविष्कार और सामान्य रूप से प्रचलित होने के कालों में लगभग ८०० वर्ष का अन्तर अवश्य पड़ा होगा, जैसा कि यूनानी वर्णमाला-संकेत के सम्बन्ध मे हुआ। अतएव केवल पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर ही हम इस आविष्कार को ईसवी सन् के आरम्भ मे, अधिक सम्भवतः प्रथम शताब्दी ई० पू० में, रख सकते है। साहित्यिक तथा अन्य प्रमाणों से भी, जिनकी चर्चा आगे की जायगी, इस निष्कर्ष को समर्थन मिलता है।

९. प्राचीन पद्धति का अन्त

अंक लिखने की प्राचीन पद्धति, जिसमे स्थान-मान सिद्धान्त सम्मिलित नहीं था, साधारणतः सातवीं शताब्दी तक के लेखों मे मिलती है। उस समय के बाद, स्थान-मान सिद्धान्त के पक्ष मे, उसका प्रयोग धीरे-धीरे बन्द कर दिया गया। तो भी दशवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राचीन पद्धति का प्रयोग यदा-कदा नैपाल में तथा दक्षिण-भारत के लेखों में देखने को मिलता है, परन्तु इस काल के बाद प्राचीन पद्धति लोगों को भूल सी गयी और उसका प्रयोग बिलकुल नहीं हुआ। सातवीं शताब्दी में सामान्य रूप से तो नवीन पद्धति का ही प्रयोग होता था, परन्तु अन्तर्लेख आदि के लिखने में प्राचीन पद्धति को मान्यता दी जाती थी। आठवीं शताब्दी के लिखे हुए बहुत से दानपत्र ऐसे है जिनमे अंक तो प्राचीन पद्धति के अनुसार है परन्तु उनके लिखने मे अशुद्धियाँ है; जिससे विदित होता है कि उस समय लोग अंक लिखने की प्राचीन पद्धति भूल चुके थे। उदाहरणार्थ, शीलादित्य षष्ठ के दानपत्र[1] मे जो गुप्त संवत् ४४१ (=७६० ई०) का है, १०० के चिह्न में ४ का चिह्न जोड़ने की जगह, ४० का चिह्न जोड़ा गया है, तदनुसार ४०० के स्थान में ४००० लिखा गया है। इसी प्रकार एक दूसरे दानपत्र में, जो गांगेय संवत् १८३ (=७५३ ई०) का है, १८३ लिखने में अशुद्धि की गई है।[2] इस दानपत्र का एक विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसमे प्राचीन और

[1] इंडियन ऐंटिक्वेरी, ६, पृ० १९, (दानपत्र)।

[2] एपिग्रैफिया इंडिका, ३, पृ० १३३, (दानपत्र)। **इसमें ८० के लिए ८ का चिह्न और ३० के लिए ३ का चिह्न लिखा गया है। २० लिखने के लिए २ का चिह्न लिखकर उसके आगे एक बिन्दु रख दिया गया है।**

नवीन दोनों पद्धतियों का एक साथ प्रयोग किया गया है।[1] दोनों पद्धतियों को एक साथ प्रयोग करनेवाला एक दूसरा मनोरंजक उदाहरण आहर दानपत्र है।[2] इस दानपत्र में ३७ वर्षों के अन्दर अनेक अवसरों पर दिये गये दानों की सूची दी गयी है; लेख की अन्तिम पूर्ति ९०५ ई० में हुई है। इस लेख की प्रथम छः पंक्तियों में प्राचीन पद्धति का प्रयोग है, परन्तु आगे की पंक्तियों में प्राचीन पद्धति का त्याग करके नवीन पद्धति का प्रयोग किया गया है। अंकों के आकारों से स्पष्ट है कि लेखक प्राचीन पद्धति से अनभिज्ञ था। उदाहरणार्थ, २०० लिखने के लिए सु (=१००) में प्राचीन पद्धति के अनुसार मात्रा का चिह्न न जोड़कर २ का अंक जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार १० लिखने में भी अशुद्धि है; लेखक ने १० के चिह्न के बाद शून्य लिख दिया है। इस लेख से प्रतीत होता है कि यद्यपि प्राचीन पद्धति का प्रयोग बिलकुल बन्द हो चुका था, तो भी लोग अन्तर्लेख आदि में उसी का प्रयोग करते थे, कदाचित् उन्हीं कारणों से जिन कारणों से अध्यायों के अंकन में तथा घड़ियों के ऊपर घटासूचक अंक लिखने में आज भी रोमन अंकों का प्रयोग किया जाता है।

१०. शब्दांक-पद्धति

पद्धति का वर्णन:

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में, स्थान-मान के क्रम से रखे हुए शब्दों द्वारा संख्याओं को सूचित करने की एक नयी पद्धति का विकास एवं सिद्धि की गयी। इस पद्धति में अंकों को ऐसे शब्दों द्वारा सूचित करते हैं जो वस्तुओं, जीवों अथवा भावों के नाम होते थे तथा स्वयं, या शास्त्र के विधान से, अंकबोधक होते हैं। इस प्रकार अंक १ किसी ऐसी वस्तु द्वारा सूचित किया जा सकता है जो अपने प्रकार की एक ही है, जैसे पृथ्वी, चन्द्रमा, इत्यादि; अंक २ को ऐसी वस्तु से सूचित कर सकते हैं जिसके जोड़े होते हैं,

[1] **दोनों पद्धतियों का मिश्रित प्रयोग करनेवाले अन्य उदाहरणों के लिए, देखिए फ्लीट गुप्त इंस्क्रिप्शंस, कॉर्पस इंस्क्रिप्टिओनम इंडिकेरम, जिल्द ३. पृ० २९२; और इंडियन ऐंटिक्वेरी, १४, पृ० ३५१; इसमें (८००) (४) (९) = ८४९।**

[2] **सी० डी० चटर्जी, 'दि आहर स्टोन इंस्क्रिप्शन',** 'जर्नल यूनाइटेड प्राविसेज हिस्टारिकल सोसायटी, १९२६, पृ० ८३-११९।

जैसे आँख, हाथ, युग्म, इत्यादि; इसी प्रकार अन्य अंक भी सूचित किये जा सकते हैं। शून्य को अभ्र, आकाश, पूर्ण आदि शब्दों से सूचित करते हैं।

इस पद्धति का प्रयोग ज्योतिष, गणित तथा छंदःशास्त्र के ग्रंथों में, समय सूचित करने के लिए अन्तर्लेखों तथा दानपत्रों में, और हस्तलिपियों में भी हुआ है। भारतवर्ष के प्राचीन ज्योतिषियों और गणितज्ञों ने अपने ग्रंथों को पद्य में लिखा। अतएव उनको ज्योतिष के ग्रन्थों तथा गणित के उदाहरणों में आनेवाली बड़ी-बड़ी संख्याओं को सूचित करने के लिए सुगम रीति की आवश्यकता पड़ी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए शब्दांकों का आविष्कार हुआ, और शीघ्र ही वे अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये। आज भी जब बड़ी-बड़ी संख्याओं को पद्यबद्ध करना होता है तो इन्हीं अंकों का प्रयोग किया जाता है।

एक से लेकर नौ तक अंको तथा शून्य को सूचित करनेवाले शब्दों को स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार प्रयोग करके किसी संख्या को सरलता से व्यंजित किया जा सकता है। इस प्रकार संख्या १,२३० को कई प्रकार से सूचित कर सकते हैं, जैसे—

(१) खगुणकरादि (ख-गुण-कर-आदि),

(२) खलोककर्णचन्द्र (ख-लोक-कर्ण-चन्द्र),

(३) आकाशकालनेत्रधरा (आकाश-काल-नेत्र-धरा), इत्यादि।

हम देखते हैं कि वही संख्या शब्दांकों के द्वारा सैकडों प्रकार से सूचित की जा सकती है। इस विशेषता के कारण संख्याओं को छन्दबद्ध करने में शब्दांक अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। और अधिक विविधता लाने के लिए दस से बडे अंक भी कभी-कभी विशेष शब्दों द्वारा सूचित किये जाते हैं।

शब्दांकों की सूची

निम्नलिखित सूची उन शब्दों की है जो इस पद्धति मे अंकों को सूचित करने के लिए साधारण तौर से प्रयोग में आये है :

अंक	शब्द
०	शून्य, ख, गगन, अम्बर, आकाश, अभ्र, वियत्, व्योम, अंतरिक्ष, नभ, जलधरपथ, पूर्ण, रन्ध्र, विष्णुपद, अनन्त, इत्यादि।
१	आदि, शशि, इंदु, विधु, चन्द्र, कलाधर, हिमगु, शीतांशु, क्षपाकर, हिमांशु, शीतरश्मि, प्रालेयांशु, सोम, शशांक, मृगांक, हिमकर,

सुधांशु, रजनीकर, शशधर, श्वेत, अब्ज, भू, भूमि, क्षिति, धरा, उर्वरा, गो, वसुन्धरा, पृथ्वी, क्षमा, धरणी, वसुधा, इला, मही, रूप, पितामह, नायक, तनु, इत्यादि।

२ यम, यमल, अश्विन्, नासत्य, दस्र, लोचन, नेत्र, अक्षि, दृष्टि, चक्षु, अम्बक, नयन, ईक्षण, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु, जंघा, द्वय, द्वन्द, युगल, युग्म, अयन, कुटुम्ब, रविचन्द्रौ, नय,[1] इत्यादि।

३ राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत्, भुवन, काल, त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, हरनेत्र, सहोदराः, अग्नि, अनल, वह्नि, पावक, वैश्वानर, दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, शिखिन्, कृशानु, होतृ, पुर, रत्न[2] (जैन), इत्यादि।

४ वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, अब्धि, अम्भोध, अम्भोधि, जलधि, उदधि, जलनिधि, सलिलाकर, विषनिधि, वारिधि, पयोधि, पयोनिधि, अम्बुधि, केन्द्र, वर्ण, आश्रम, युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश्, बन्धु, कोष्ठ, गति, कषाय, इत्यादि।

५ बाण, शर, शस्त्र, सायक, इषु, भूत, पर्व, प्राण, पवन,[3] पाण्डव, अर्थ, विषय, महाभूत, तत्त्व, भाव, इन्द्रिय, रत्न, करणीय[4], व्रत, इत्यादि।

६ रस, अंग, काय, ऋतु, मासार्ध, दर्शन, राग, अरि, शास्त्र, तर्क, कारक, लेख्य, द्रव्य,[5] खर, कुमारवदन, षण्मुख, इत्यादि।

[1] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टिकोणों से वस्तुओं को देखने की रीति को नय कहते हैं।

[2] इस शब्द को महावीर ने ३ के अर्थ में लिखा है; अन्य लोगों के मत से इसका अर्थ ५ है।

[3] देखो सिद्धान्त-शेखर, १. २७; सिद्धान्त शिरोमणि, १, १०. २। भट्टोत्पल ने इसे ७ के अर्थ में प्रयोग किया है, (बृहत्संहिता, अध्याय २, पर भट्टोत्पल की टीका देखिए)। अलबेरूनी की सूची में इस शब्द का अर्थ ९ दिया गया है, जो अशुद्ध है।

[4] जैनों के मतानुसार, अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को करणीय (अर्थात् करने योग्य) कहते हैं।

[5] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

७ नग, अग, भूभृत्, पर्वत, शैल, अचल, अद्रि, गिरि, ऋषि, मुनि, यति, अत्रि, वार, स्वर, धातु, अश्व, तुरग, वाजि, हय, छन्दः, धी, कलत्र, तत्त्व[1], द्वीप, पन्नग[2], भय[3], मातृका, व्यसन, इत्यादि।

८ वसु, अहि, नाग, गज, दंति, द्विरद, दिग्गज, हस्तिन्, इभ, मातंग, कुंजर, द्वीप, पुष्करिन्, सिन्धुर, सर्प, तक्ष, सिद्धि, भूति, अनुष्टुभ्, मंगल, अनीक, कर्मन्[4], दुरित, तनु[5], दिक्[6], मद[7], इत्यादि।

९ अंक, नन्द, निधि, ग्रह, रंध्र, छिद्र, द्वार, गो[8], उपेन्द्र, केशव, तार्क्ष्य-ध्वज, दुर्गा, पदार्थ[9], लब्ध, लब्धि, इत्यादि।

१० दिश्, दिक्, दिशा, आशा, अंगुली, पंक्ति, ककुभ्, रावणशिर, अवतार, कर्मन्, इत्यादि।

११ रुद्र, ईश्वर, मृड, हर, ईश, भव, भर्ग, शूलिन्, महादेव, अक्षौहिणी, इत्यादि।

१२ रवि, सूर्य, इन, अर्क, मार्तण्ड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय, इत्यादि।

१३ विश्वेदेवाः, विश्व, काम, अतिजगती, अघोष इत्यादि।

१४ मनु, विद्या, इन्द्र, शक्र, लोग[10], इत्यादि।

१५ तिथि, घस्र, दिन, अहन्, पक्ष[11], इत्यादि।

[1] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है, क्योंकि जैन लोग ७ तत्त्व मानते हैं। अन्य लोगों ने इसे ५ के अर्थ में प्रयोग किया है।

[2] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

[3] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

[4] महावीर ने इसे ८ के लिए प्रयोग किया है, अन्य लोगों ने १० के लिए।

[5] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

[6] यह शब्द ८ और १० दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। दिश् और दिक् शब्दों का प्रयोग ४ के अर्थ में भी मिलता है।

[7] इस शब्द को केवल महावीर ने प्रयोग किया है।

[8] यह शब्द १ के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है।

[9] इस शब्द को केवल महावीर ने प्रयोग किया है।

[10] इसका ३ के लिए भी प्रयोग हुआ है।

[11] इसका २ के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है।

१६ नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला, इत्यादि।
१७ अत्यष्टि।
१८ धृति।
१९ अतिधृति।
२० नख, कृति, इत्यादि।
२१ उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग, इत्यादि।
२२ आकृति, जाति (?), इत्यादि।
२३ विकृति।
२४ गायत्री, जिन, अर्हत्, सिद्ध, इत्यादि।
२५ तत्व[1]।
२७ नक्षत्र, उडु, भ, इत्यादि।
३२ दन्त, रद, इत्यादि।
३३ देव, अमर, त्रिदश, सुर, इत्यादि।
४८ जगती।
४९ तान।

स्थान-मान के बिना शब्दांकों का प्रयोग

वेदों में अंक सूचित करने के लिए वस्तुओं के नामों का प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु ऐसे उदाहरण अवश्य हैं जहाँ वस्तुओं को सूचित करने के लिए अंकों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में 'वर्ष' के अर्थ में 'द्वादश' का प्रयोग किया गया है[2], और अथर्ववेद में 'सात वस्तुओं के समूह (सात समुद्र, इत्यादि)' के अर्थ में 'सप्त' का प्रयोग किया गया है।[3] तथापि ऐसे उदाहरण भी हैं, जहाँ 'भिन्नों' को सूचित करने के लिए शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे, कला=$\frac{1}{16}$, कुष्ठ=$\frac{1}{72}$, शफ=$\frac{1}{3}$।

शब्दों द्वारा पूर्णसंख्या सूचित करने के सबसे प्राचीन उदाहरण २०० ई० पू०

[1] यह शब्द प्रायः ५ को सूचित करता है; महावीर ने ७ के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया है।
[2] 'देव हिति जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरोन प्रमिनन्त्येते...'(७, १०३, १)।
[3] 'ओं ये त्रिसप्त परियन्ते....' (१. १. १)।

के लगभग, शतपथ ब्राह्मण[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] मे, मिलते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में भी अनेक उदाहरण हैं। वेदांग ज्योतिष[3] (१,२०० ई० पू०) में भी कई स्थानों पर अंको के अर्थ में शब्दों का प्रयोग हुआ है। कात्यायन[4] और लाट्यायन[5] के श्रौतसूत्रों में २४ के अर्थ में 'गायत्री' का और ४८ के अर्थ में 'जगती' का प्रयोग किया गया है।

तो भी इतने प्राचीन काल में अंक-सूचक शब्द कौतुक-मात्र ही थे; अंकों के अर्थ में उनका प्रयोग विरल था। इसके अतिरिक्त हमें ऐसे उदाहरण मिले हैं जिनसे विदित होता है कि शब्दों को दिये गये अंकात्मक मानो में कुछ अस्थिरता भी थी। उदाहरणार्थ, एक ही ग्रंथ, ऐतरेय ब्राह्मण में, 'विराट्' शब्द का प्रयोग एक स्थान पर १० के अर्थ में और दूसरे स्थान पर ३० के अर्थ में किया गया है। स्थान-मान सिद्धान्त अज्ञात होने के कारण बड़ी-बड़ी संख्याओं को सूचित करने के लिए शब्द संकेतों का प्रयोग नहीं हो सकता था, और उन संख्याओं को अंक-संज्ञाओं द्वारा अथवा संख्या को टुकड़े-टुकड़े करके व्यक्त किया जाता था।[6] स्थान-मान सिद्धान्त के बिना ही शब्दांकों का प्रयोग लगभग २०० ई० पू० में, पिगल के छंदःसूत्र में, मिलता है। प्रतीत होता है कि शब्दांक-पद्धति मे स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग २०० ई० पू० और ३०० ई० के बीच में किसी समय हुआ।

[1] 'चतुष्टोमेन कृतेन अयानां. . . .' (१३. ३. २. १)। इसमें 'कृत' शब्द का ४ के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

[2] 'ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् . . .' (१. ५. ११. १)।

[3] रूप=१, अय=४, गुण=युग=१२, भसमूह=२७। देखिए (याज्यो. २३; आज्यो. ३१), (याज्यो. १३; आज्यो. ४), (आज्यो. १६), (याज्यो. २५,) (याज्यो. २०), क्रमानुसार। (याज्यो=याजुष-ज्योतिष, आज्यो=आर्च ज्योतिष)

[4] कात्यायन श्रौत सूत्र (वेबर का संस्करण), पृ० १०१५।

[5] ६. ४. ३१।

[6] उदाहरणार्थ,

दशायुतानामयुतं सहस्राणि च विंशतिः।
कोट्यः षष्टिश्च षट्चैव ह्यस्मिन् राजन्! मृधे हताः॥ (महाभारत, स्त्रीपर्व, २६. ६)। यहाँ पर ६६०१३०००० निम्न प्रकार से लिखा गया है: १०(१०,०००) + १०,०००+२०(१,०००)+६०(१,००,००,०००)+६(१,००,००,०००)।

शब्दांक-पद्धति में स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग

स्थान-मान सिद्धान्त के साथ शब्दाकों का आधुनिक रूप मे प्रयोग सबसे पहले अग्निपुराण[१] मे मिलता है, जिसकी रचना ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में हुई थी। भट्टोत्पल ने अपनी बृहत्संहिता-विवृति मे मूल पुलिश-सिद्धान्त[२] से एक उद्धरण दिया है जिसमें शब्दांक-पद्धति का प्रयोग मिलता है। उद्धरण में प्रयुक्त संख्या है—ख (०) ख (०) अष्ट (८) मुनि (७) राम (३) अश्वि (२) नेत्र (२) अष्ट (८) शर (५) रात्रिपाः (१) = १,५८,२२,३७,८००। उक्त ग्रंथ[३] मे पुलिश-सिद्धान्त के और भी बहुत से उद्धरण हैं जिनमें शब्दांकों का प्रयोग किया गया है। सूर्य-सिद्धान्त (ल० ३०० ई०), पंचसिद्धान्तिका[४] (ल० ५५० ई०), महा- और लघु-भास्करीय[५] (६२९ ई०), ब्राह्म स्फुट-सिद्धान्त[६] (६२८ई०), त्रिशतिका[७] (ल० ७५० ई०), और गणित-सार-संग्रह[८] (८५० ई०) आदि बाद के ज्योतिष तथा गणित के ग्रंथ, सभी शब्दांकों का प्रयोग करते हैं।[९]

[१] अग्निपुराण, बंगवासी संस्करण, कलकत्ता (१३१४ विक्रम संवत्), अध्याय १२२-२३, १३१, १४०, १४१, ३२८-३३५। आधुनिक काल के सबसे बड़े पुराण-वेत्ता पार्जिटर का कथन है कि पुराण ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के बाद के नहीं हो सकते'। (देखिए, जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृ० २५४-५५)। सभी विद्वान मानते हैं कि अग्निपुराण सबसे अधिक प्राचीन पुराण है।

[२] बृहत्संहिता, सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, बनारस, पृ० १६३।

[३] पूर्वोक्त, पृ० २७, २९, ४९, ५१, इत्यादि। हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ये उद्धरण मूल ग्रंथ से हैं अथवा बाद के किसी संस्करण से।

[४] १. ८; ८. १, इत्यादि।

[५] महा-भास्करीय, ७; लघु-भास्करीय, १।

[६] १. ५१-५५, इत्यादि।

[७] सूत्र ६, उदाहरण ६, इत्यादि।

[८] २. ७, ९, इत्यादि।

[९] यहाँ पर दिये गये प्रमाण के होते हुए भी जी० आर० के का कथन (देखिए इंडियन मैथेमेटिक्स, कलकत्ता, १९१५, पृ० ३१) कि शब्दांक नवीं शताब्दी में पूर्व से भारतवर्ष में लाये गये थे यह प्रदर्शित करता है कि या तो वे भारतीय गणित के ग्रंथों के अनिभिज्ञ हैं, अथवा उन्होंने जान-बूझकर असत्य भाषण किया है।

पुरालेखों में शब्दांक

शब्दांकों के प्रयोग के प्राचीनतम पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण दो संस्कृत के अन्तर्लेखों[1] में मिलते हैं। ये अन्तर्लेख कम्बोडिया में, जो प्राचीन काल में एक भारतीय उपनिवेश था, प्राप्त हुए हैं, और इनके रचना-काल क्रमानुसार ६०४ ई० और ६२५ई० है। इसके बाद उक्त अंकों का प्रयोग जावा के एक संस्कृत अंतर्लेख में मिलता है, जो आठवीं शताब्दी का है।[2]

स्वयं भारतवर्ष में तो यद्यपि ज्योतिषियों और गणितज्ञों में तीसरी अथवा चौथी शताब्दी से ही इन अंकों का प्रयोग होता चला आ रहा है, तो भी बहुत समय बाद तक इनको अन्तर्लेखों में प्रयोग करने की प्रथा नही हुई। सबसे अधिक प्राचीन हिन्दू अन्तर्लेख जिनमें इन अंकों का प्रयोग हुआ है ८१३ ई०[3] और ८४२ ई०[4] के लिखे हुए हैं। इसके बाद की शताब्दी में इनका प्रयोग ९४३ ई०[5] में प्रसारित पूर्वी चालुक्य अम्म द्वितीय के पट्टों में मिलता है। आगे के काल में पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण अधिक शीघ्रता से मिलते हैं। बहुत-सी हस्तलिपियों में भी, जिनमें तिथियाँ पद्यबद्ध है, इस संकेत का प्रयोग मिलता है।[6]

उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास

यह ध्यान देने योग्य है कि शब्दांकों के प्रयोग से बनी हुई संख्यायों में अंकों का क्रम उस क्रम से विपरीत होता है जो कि उसी संख्या को अंकों के द्वारा लिखने में प्रयोग किया जाता है। इस तथ्य से कुछ विद्वान् भ्रमवश

[1] **आर० सी० मजूमदार,** एंशन्ट इडियन कालोनीज इन दि फार ईस्ट,—चंपा, **जिल्द १, लाहौर, १९२७; देखिए अन्तर्लेख नं० ३२, ३९; और ४०, ४१, ४३, ४४।**

[2] इंडियन ऐंटिक्वेरी, ११, पृ० ४८।

[3] **दि कडब प्लेट्स,** इंडियन ऐंटिक्वेरी, २१, पृ० ११; **फ्लीट द्वारा संदिग्ध घोषित (कनारीज डिनैस्टीज,** बाम्बे गैजेट्टियर, १, २. ३९९, **नोट ७); देखिए बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ८६, नोट ४।**

[4] **दि धोलपुर इंस्क्रिप्शन,** जाइट्श्रृफ्ट डेर डायशेन मार्गेन्लेंडिशेन गेशेलशाफ्ट, **जिल्द ४०, पृ० ४२।**

[5] इंडियन ऐंटिक्वेरी, ७, पृ० १८।

[6] **बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ८६, नोट ७।**

H 2855

इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि दशमलव-संकेत और शब्दांकों की उत्पत्ति दो भिन्न-भिन्न स्थानों में हुई। जी० आर० के तो इतनी दूर पहुँच गये हैं कि उन्होंने सुझाव दिया है कि शब्दांक भारतवर्ष में पूर्व से आये। इस सुझाव की असत्यता तो केवल इसी से सिद्ध होती है कि संस्कृत के अतिरिक्त किसी भी भाषा में शब्द-संकेत के प्राचीन-कालिक प्रयोग का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। और भारतवर्ष के अतिरिक्त किसी भी देश में चौथी शताब्दी पर्यन्त, जबकि भारतीय ज्योतिषी और गणितज्ञ शब्दांक-पद्धति को सामान्य रूप से प्रयोग में लाते थे, शब्दांक-पद्धति के प्रयोग का कोई चिह्न भी नहीं मिलता।

इस पद्धति के विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में हम देखते हैं कि शब्दांकों के स्थान पर अंक-संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता था, जो कि अंकों की भाँति ही बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखे जाते थे। इसका एक उदाहरण बक्षाली हस्त-लिपि[1] (लगभग २०० ई०) में मिलता है, जिसमें संख्या

२६५३२९६२२६४४७०६४९९...८३२१८

निम्न प्रकार से व्यंजित की गयी है—

षड्विंशश्च (२६) त्रिपंचाश (५३) एकोनत्रिंश (२९) एव च
द्वा [षष्टि] (६२) षड्विंश (२६) चतुष्चत्वारिंश (४४) सप्तति (७०)
चतुःषष्टि (६४) न [वनवति] (९९)..... सनन्तरम्
त्रिरशीति (८३) एकविंश (२१) अष्ट (८) ...पकम् ।

तथापि उसी हस्तलिपि में ५४ को 'चतुः (४) पंच (५)' से व्यंजित किया गया है, और यह क्रम पहलेवाले क्रम का ठीक उलटा है।[2] जिनभद्र गणि (५७५ ई०) ने संख्याओं को सूचित करने मे, बायी ओर से दाहनी ओर के क्रम से, शब्दांको का प्रयोग किया है।[3] इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में, शब्दांक पद्धति में, अंक-स्थापन के क्रम के विषय में मतभेद था।

[1] पत्र ५८ (अ)। बिन्दियाँ यह सूचित करती हैं कि कुछ अंक लुप्त हैं। स्पष्ट है कि प्रश्न को हल करने के लिए एक बड़ी संख्या को अंकों में लिखने की आवश्यकता है। इस प्रकार का प्रश्न हमें किसी बाद के ग्रंथ में नहीं मिला। देखिए बी० दत्त, 'दि बक्षाली मैथेमेटिक्स,' बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसायटी, जिल्द २१, पृ० २१।

[2] पत्र २७ (अ)।

[3] बृहत्-क्षेत्र-समास, १. ६९ आदि।

पुलिश, वराहमिहिर और लल्ल आदि पहले के गणितज्ञों ने शब्दांकों का अत्यधिक प्रयोग करके दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखने की एक पद्धति सी डाल दी, जिसका बाद के लेखकों ने सामान्य रूप से अनुसरण किया।

दाहिनी ओर से बायीं ओर के क्रम को मान्यता देने का क्या कारण था, इस बात का स्पष्टीकरण किसी प्राचीन ग्रंथ मे नहीं मिलता। हम लोगों को इसका निम्नलिखित कारण प्रतीत होता है, और हमे विश्वास है कि संभवत: यही इसका वास्तविक कारण है: उद्देश्य यह था कि शब्दांकों का चुनाव इस प्रकार हो कि संख्या-सूचक शब्द इष्ट छंद में ठीक-ठीक बैठ जायँ। चुनाव को आसान करने के लिए इष्ट संख्या को पहले अंकों में लिख लेते थे।[1] उचित शब्दों का चुनाव अब स्वभावत: इकाई-वाले स्थान से आरम्भ होगा और बायीं ओर अग्रसर होगा, जैसा कि गणित के परिकर्मों में होता है। यह क्रम 'अंकानां वामतो गति:' (अर्थात्, अंको की गति बायीं ओर को होती है) के नियम के अनुरूप ही है, जो कि भारतीय गणितज्ञों में अत्यंत प्रसिद्ध था। अतएव दाहिनी ओर से बायीं ओर को अंक लिखने के क्रम का कारण इस बात में निहित है कि हिन्दू गणितज्ञ शब्द-संख्याओं की रचना की विधि को एक प्रकार के गाणितिक परिकर्म के रूप में देखना चाहते थे।

आविष्कार का समय

अग्नि-पुराण में, जो कि चौथी शताब्दी या इसके पहिले का लिखा हुआ है, शब्दांकों का प्रयोग यह सूचित करता है कि शब्दांक-पद्धति उस समय (अर्थात् चौथी शताब्दी में) भारतवर्ष मे सामान्य रूप से प्रसिद्ध हो चुकी होगी, क्योंकि पौराणिक ग्रंथ जन-साधारण के मतलब के होते हैं। पुलिश-सिद्धान्त और सूर्य सिद्धान्त में इसका विस्तृत प्रयोग मिलने से यह भी सूचित होता है कि चौथी शताब्दी में यह पद्धति पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। अतएव इसका आविष्कार कम से कम दो शताब्दी पहले हो चुका होगा। इस प्रकार इस आविष्कार का समय १०० ई० से २०० ई० तक माना जा सकता है। इस निष्कर्ष को इस बात से समर्थन मिलता है कि इस संकेत का प्रयोग कम्बोडिया में प्राप्त ६०५ ई० के एक अन्तर्लेख मे मिलता है, जिससे यह विदित होता है कि छठी शताब्दी के अंत तक इस पद्धति के ज्ञान का क्षेत्र यूरोप के तुल्य भूभाग में फैल चुका था।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त और शब्दांक-पद्धति का आविष्कार एक साथ नहीं हुआ था। जब शब्दांक-पद्धति में स्थान-मान

सिद्धान्त को प्रयोग करने विचार हुआ, उसके बहुत समय पहले दशमलव संकेत का अस्तित्व रहा होगा तथा गणितज्ञों में इसका सामान्य रूप से प्रयोग भी होता रहा होगा। इस प्रकार हम देखते है कि आरंभ में (अर्थात् २०० ई० के लगभग) स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग, जैसा कि आशा की जानी चाहिए, अंक-संज्ञाओं के साथ किया जाता होगा। बाद मे छन्दों की सुविधा के लिए अंक संज्ञाओं के स्थान में शब्दांकों का प्रयोग होने लगा होगा। अन्त में दाहिनी ओर से बायीं ओर का क्रम भी ग्रहण कर लिया होगा, क्योंकि गणितज्ञ लोग शब्द-संख्याओं की रचना को एक प्रकार के गणितिक परिकर्म के रूप में देखना चाहते थे।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर दशमलव स्थान-मान संकेत के आविष्कार का समय, शब्दांक-पद्धति के आविष्कार होने से कम से कम दो शताब्दी पहले निर्धारित किया जा सकता हैं। परन्तु, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, शब्दांक-पद्धति का आविष्कार पहली शताब्दी के लगभग हुआ था; अतएव स्थान-मान संकेत के आविष्कार का समय पहली शताब्दी ई० पू० मानना पड़ेगा। यह निष्कर्ष उस निष्कर्ष के अनुरूप ही है जो पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर स्थापित किया जा चका है।

११. अक्षर-संकेत

अंकों को सूचित करने के लिए वर्णमाला के अक्षरों का प्रयोग सबसे पहले पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। पाणिनि ने संस्कृत वर्णमाला के स्वरों का अक्षरों के अर्थ मे प्रयोग किया है।[1] परन्तु पाँचवीं शताब्दी तक इस अक्षर-संकेत के विस्तृत प्रयोग का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पाँचवीं शताब्दी के लगभग कई लेखकों ने, संख्याओं को पद्य में प्रयोग करने के प्रधान उद्देश्य

[1] पाणिनि की व्याकरण (अष्टाध्यायी) में कुछ सूत्र (नियम) ऐसे हैं जो आगे के कुछ सूत्रों में ही प्रयुक्त होते हैं सब में नहीं। ऐसे सूत्रों को पाणिनि ने स्वर चिह्नों से अंकित कर दिया है। सूत्र १. ३. ११ के भाष्य में पतंजलि ने लिखा है कि, कात्यायन (चौथी शताब्दी ई० पू०) के अनुसार, पाणिनि ने सूत्रों के ऊपर एक ऐसा अंक-सूचक चिह्न लिख दिया है, जो यह बताता है कि वे सूत्र आगे के कितने सूत्रों तक प्रयुक्त होंगे। कैय्यट ने इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि पाणिनि के सूत्र ५. १. ३० के ऊपर लिखा हुआ स्वर 'इ' यह बतलाता है कि वह सूत्र आगे के २ सूत्रों में भी लगेगा। इस प्रकार, पाणिनि के अनुसार अ=१, इ=२, उ=३, ...इत्यादि।

से, अक्षर-संकेत की भिन्न-भिन्न पद्धतियों का आविष्कार किया। शब्द-संख्याओं मे शब्द-बाहुल्य होने से, कभी-कभी एक ही संख्या को लिखने के लिए एक पूरे श्लोक अथवा एक से अधिक श्लोकों की आवश्यकता पडती है। शब्द-संख्याओं का यह लक्षण, कुछ भारतीय ज्योतिषियों को, जो लघुता और संक्षेपता को वैज्ञानिक कृति का प्रधान गुण समझते थे, स्वभावतः अच्छा नहीं लगा। अतएव ज्योतिष ग्रंथों में शब्द-संख्याओं को बदलने के लिए अक्षर-संकेत का आविष्कार किया गया। भिन्न-भिन्न अक्षर-संकेत पद्धतियाँ[1], दशमलव स्थान-मान संकेत के साधारण प्रकारांतर है जिनमे अकों के स्थान मे अक्षरों का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि भारतीय अक्षर-संकेत पद्धतियों का प्रयोग, यूनानी और अरबी पद्धतियों के प्रतिकूल, न तो साधारण जनता द्वारा किया गया और न गणना करने मे ही हुआ। उनका ज्ञान विद्वानों तक ही सीमित रहा और उनका प्रयोग केवल संख्याओं को पद्यबद्ध करने मे ही हुआ।

आर्यभट प्रथम का अक्षर-संकेत

अक्षर-संकेत की एक पद्धति का आविष्कार आर्यभट प्रथम (जन्म ४७६ ई०) ने किया था, जिसका प्रयोग करके उन्होंने ज्योतिषोपयोगी संख्याओं (बीजों) को दशगीतिका[2] मे पद्यबद्ध किया है। इस संबंध मे उन्होंने दशगीतिका में निम्नलिखित नियम दिया है :

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङमौ यः।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा॥

[1] कुछ अक्षर-पद्धतियाँ, जिनका प्रयोग पत्रांकन में मिलता है, स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग नहीं करतीं। इन पद्धतियों का आविष्कार लिपिकारों ने किया था, जो कदाचित् विद्वान् बनना चाहते थे और अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना चाहते थे। इन पद्धतियों का प्रयोग केवल लिपिकारों तक ही सीमित रहा।

[2] दशगीतिका में, जैसा नाम से सूचित होता है, दस पद्य होने चाहिए; परन्तु वास्तव में उसमें १३ पद्य है। इनमें से पहिले में परब्रह्म को प्रणाम करके वर्ण्य वस्तु का संकेत किया गया है, दूसरे में पुस्तक में प्रयुक्त अक्षर-संकेत का नियम समझाया गया है और १३वें में विषय का माहात्म्य वर्णित है। अतएव इन पद्यों को नहीं गिना गया है। देखिए, डब्ल्यू० ई० क्लार्क, "हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स", इंडियन स्टडीज इन ऑनर आव चार्ल्स रॉकवेल लैनमन, (हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), १९२९, पृ० २३१।

निम्नलिखित अनुवाद में लेखक का अभिप्रेत अर्थ दिया गया है :

"वर्गाक्षर[1], जिनका आदि 'क' है, वर्गस्थानों[2] में (प्रयुक्त किये गये हैं), और अवर्गाक्षर (जिनका आदि 'य' है) अवर्गस्थानों[3] में (प्रयुक्त किये गये हैं)। (इस प्रकार) ङमौ (=ङ+म) का मान वही है जो 'य' का। नौ स्वर, शून्यों के (वर्ग और अवर्ग स्थानवाले) नौ जोड़ों के लिए (प्रयुक्त किये गये हैं)। यही (क्रिया) नौ (वर्ग और अवर्ग स्थानों) के बाद भी (प्रयुक्त की जा सकती है)।"

ह्विश[4], ब्राख्खाउस[5], कर्न[6], बार्थ[7], रोडे[8], के[9], फ्लीट[10], दत्त[11], गांगुली,[12] दास[13], लाहिड़ी[14] और क्लार्क[15] ने उक्त नियम का विवेचन किया है।

'ख' का अनुवाद 'स्थान (प्लेस)' (जो क्लार्क ने किया है) अथवा 'जगह (स्पेस)' (जो फ्लीट ने किया है) अशुद्ध है। संस्कृत साहित्य में 'अंकस्थान' के अर्थ में 'ख' का प्रयोग हमें कहीं नहीं मिला। 'ख' का अर्थ है, रिक्त, आकाश, इत्यादि; गणित और ज्योतिष के ग्रंथों में यह शब्द 'शून्य' के अर्थ में प्रयोग किया

[1] क्, ख्, ग्, घ्, ङ (कवर्ग); च्, छ्, ज् झ्, ञ (चवर्ग); ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् (टवर्ग); त्, थ्, द्, ध्, न् (तवर्ग); प्, फ्, ब्, भ्, म् (पवर्ग), ये २५ अक्षर वर्गाक्षर कहलाते हैं। य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, और ह् अवर्गाक्षर कहलाते हैं।

[2] वर्गस्थान का यहाँ पर अर्थ है, ओज-स्थान या विषम-स्थान।

[3] अवर्गस्थान का यहाँ पर अर्थ है, युग्म-स्थान या सम-स्थान।

[4] ट्रांजैक्शंस ऑव दि लिटरेरी सोसायटी ऑव मद्रास, १, १८२७, पृ० ५४।

[5] जाइट्श्रृफ्ट फ्युर डी कुडे डेस मार्गेनलेंडेस, जिल्द ४, पृ० ८१।

[6] जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८६३, पृ० ३८०।

[7] ऊव्रे, जिल्द ३, पृ० १८२।

[8] जर्नल एशियाटिक, १८८०, २, पृ० ४४०।

[9] जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, १९०७, पृ० ४७८; इंडियन मैथेमेटिक्स, कलकत्ता, १९१५, पृ० ३०; दि बक्षाली मैन्युस्क्रिप्ट, कलकत्ता, १९२७, पृ० ८१।

[10] जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९११, पृ० १०९।

[11] साहित्य-परिषद्-पत्रिका, १९२९, पृ० २२।

[12] बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसायटी, १९२६, पृ० १९५।

[13] इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, ३, पृ० ११०।

[14] संसार का इतिहास (बंगला भाषा में), जिल्द ४, पृ० १७८।

[15] आर्यभटीय ऑव आर्यभट, शिकागो, १९३०, पृ० २।

गया है। अतएव क्लार्क के अनुवाद मे 'स्थानों के दो नव (दि टू नाइन्स ऑव प्लेसेज)' के स्थान में 'शून्यों के दो नव (दि ट् नाइन्स ऑव जीरोज)' होना चाहिए। क्लार्क ने 'ख' का अनुवाद 'शून्य' न करने का निम्न कारण दिया है: "यह इस कथन के तुल्य है कि प्रत्येक स्वर, (उसमें जुड़े हुए) व्यंजन के अंकात्मक मान में दो शून्य जोड़ देता है। यह (नियम) वस्तुतः स्वर इ' और उसके बाद के स्वरों के लिए उपयुक्त है; परन्तु स्वर 'अ' दो शून्य नहीं जोड़ता। वह या तो एक भी शून्य नहीं जोड़ता अथवा केवल एक शून्य जोड़ता है, जो इस बात पर निर्भर है कि उसका प्रयोग वर्गाक्षर के साथ हुआ है अथवा अवर्गाक्षर के साथ। अतएव मुझे अधिक संभव यह प्रतीत होता है कि यहाँ पर एक फलक से अभिप्राय है जिसमें ऊर्ध्वाधर कोष्ठ बने हों, न कि शून्य से, जैसा कि रोडे का विचार है।"

स्वर शून्य नहीं जोड़ते। (क्लार्क की) व्याख्या किसी भी स्वर के लिए ठीक नहीं बैठेगी। उदाहरणार्थ, उनकी व्याख्या के अनुसार, स्वर 'इ' ग मे दो शून्य जोड़ेगा परन्तु य मे तीन शून्य जोडेगा। 'ख' का वास्तविक अभिप्राय क्या है, टीकाकार सूर्यदेव ने निम्नलिखित शब्दों मे व्यक्त किया है: "खानि शून्योपलक्षितानि संख्याविन्यासस्थानानि। तेषा द्विनवकं, खद्विनवकम्। तस्मिन् खद्विनवके शून्योपलक्षितस्थानाष्टादश (१८) इत्यर्थः।" अर्थात् "ख से अभिप्राय संख्या लिखने के उन स्थानों से है जो शून्य के चिह्नों द्वारा प्रदर्शित किये जाते है। ऐसे १८ स्थान खद्विनक है। उन खद्विनकों मे अर्थात् शून्यचिह्नों द्वारा प्रदर्शित १८ स्थानों में, यह अर्थ है।" यहाँ पर हम यह बता दे कि हिन्दू लोग अंक-स्थानों को शून्यों द्वारा प्रदर्शित करते है। भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ने गणितपाद के दूसरे श्लोक, जिसमें अंकस्थानो की संज्ञाएँ दी गयी है, की व्याख्या में लिखा है:

'न्यासश्च स्थानानाम् ०००००००००'

अर्थात्, 'स्थानों का लेखन (करन पर मिलता है)—०००००००००।'

भास्कर प्रथम ने शून्य के अर्थ में 'ख' शब्द की जो व्याख्या की है वह अधिक स्पष्ट है। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में उन्होंने लिखा है:[1] "खद्विनवके स्वरा

[1] 'खद्विनवके स्वरा नववर्गे। खानि शून्यानि, खानां नवकं खद्विनवकं, तस्मिन् खद्विनवके, अष्टादशसु शून्योपलक्षितेषु .....।'

नव वर्गे । 'ख' का अर्थ शून्य है, खद्विनवक का अर्थ शून्यों का नवक है, खद्विनवके का अर्थ है 'उस शून्यों के नवक में', अर्थात् 'शून्यों द्वारा प्रदर्शित १८ अंकस्थानों में'।'

अतएव यद्यपि यहाँ पर 'ख' 'अंकस्थान' का समानार्थक है।'[1] तो भी 'ख को शून्य' से अनुवाद करना चाहिए। यहाँ पर अभिप्राय शून्य के चिह्न से है, न कि उर्ध्वाधर कोष्ठों मे विभक्त फलक से।

'नवान्त्यवर्गे वा' का अनुवाद करने मे क्लार्क को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। फ्लीट का सुझाव कि 'वा' के स्थान मे 'हौ' होना चाहिए, स्वीकार नही किया जा सकता। जो अनुवाद हमने ऊपर दिया है वह (भास्कर प्रथम, सूर्यदेव, परमेश्वर और नीलकंठ द्वारा की हुई) सभी व्याख्याओं से सामंजस्य रखता है। सब टीकाएँ एकमत है।

नियम का स्पष्टीकरण

आर्यभट प्रथम के नियम से उस विधि का ज्ञान होता है जिससे अक्षर-संकेत में लिखी हुई संख्या दशमलव स्थान-मान संकेत मे और दशमलव स्थान-मान संकेत मे लिखी हुई संख्या अक्षर-संकेत मे सूचित की जा सकती है। अंक-स्थान निम्न प्रकार से सूचित किये जाते है :

औ		ऐ		ओ		ए		ऌ		ॠ		उ		इ		अ	
अ	व	अ	व	अ	व	अ	व	अ	व	अ	व	अ	व	अ	व	अ	व
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

जिसमें 'व' वर्गस्थान को और 'अ' अवर्गस्थान को सूचित करता है।

ऊपर के चित्र में १८ अंक-स्थान शून्यों द्वारा सूचित किये गये है तथा ९ जोड़ो मे विभक्त किये गये है; प्रत्येक जोड़े मे एक वर्गस्थान (अर्थात् विषम स्थान) और एक अवर्गस्थान (अर्थात् समस्थान) है।[2] वर्गाक्षरों (अर्थात् 'क' से लेकर 'म'

[1] आर्यभटीय के महाभाष्कार नीलकंठ लिखते हैः 'खद्विनवके अर्थात् १८ स्थानों में, जिनमें ९ वर्ग स्थान है और ९ अवर्ग स्थान है।' देखिए आर्यभटीय, के० साम्बशिव शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम, १९३०, पृ० ६।

[2] बाद के लिखे हुए भारतीय ग्रंथों में वर्ग और अवर्ग की जगह क्रमानुसार विषम और सम का प्रयोग किया गया है। वर्ग का प्रयोग वर्गसंख्या अथवा वर्गाकार क्षेत्र के लिए भी किया गया है।

तक अक्षरों) का प्रयोग केवल वर्गस्थानों (अर्थात् विषम स्थानों) मे होता है, और वे वर्गाक्षर क्रम से १,२,३,..., २५ अंकों को सूचित करते है। अवर्गाक्षरों (अर्थात् 'य' से लेकर 'ह' तक[1] अक्षरों) का प्रयोग केवल अवर्गस्थानों (अर्थात् सम स्थानों) में होता है, तथा वे अवर्गाक्षर क्रम से ३,४,..., १० अंकों को सूचित करते है। प्रथम वर्गस्थान और प्रथम अवर्गस्थान मिलकर प्रथम वर्गावर्ग का जोड़ा बनाते है, द्वितीय वर्गस्थान और द्वितीय अवर्गस्थान मिलकर द्वितीय वर्गावर्ग का जोड़ा बनाते है, इत्यादि। इस प्रकार के नौ वर्गावर्ग के जोड़े क्रमशः नौ स्वरों से सूचित किये जाते है। प्रथम वर्गावर्ग का जोड़ा (अर्थात् इकाई और दहाई के स्थान) 'अ' स्वर से सूचित किये जाते है; द्वितीय वर्गावर्ग का जोड़ा (अर्थात् सैकड़े और हजार के स्थान) 'इ' स्वर से सूचित किये जाते है; इत्यादि। स्वर इस प्रकार स्थानों को—या स्थान सूचित करने की भारतीय पद्धति के अनुसार शून्यों को—सूचित करते है, परन्तु उनका स्वयं कोई अंकात्मक मान नहीं है। जब कोई स्वर किसी व्यंजन मे जोड दिया जाता है तब वह बताता है कि, स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार, उस व्यंजन द्वारा सूचित अक का क्या स्थान होगा। उदाहरणार्थ, जब स्वर 'अ', अवर्गाक्षर 'य्' मे जोड़ दिया जाता है, तो उसका अर्थ यह है कि 'य्' द्वारा प्रदर्शित अंक ३ का स्थान प्रथम अवर्गस्थान अर्थात् दहाई है। इस प्रकार य=३०। इसके विपरीत, यदि 'अ' किसी वर्गाक्षर मे जोड़ दिया जाता है, तब वह प्रथम वगस्थान अर्थात् इकाई को सूचित करता है। इस प्रकार ङ=५, म=२५, और ङम[2]=३०। इसी प्रकार 'यि' का अर्थ है कि 'य्' द्वारा प्रदर्शित अक ३ को द्वितीय अवर्गस्थान (अर्थात् हजार के स्थान) मे रखना चाहिए, तथा 'गि' का अर्थ है कि 'ग्' द्वारा प्रदर्शित अक ३ को द्वितीय वर्गस्थान (अर्थात् सैकडे के स्थान) के नीचे रखना चाहिए (क्योंकि 'ग्' वर्गाक्षर है)। इस प्रकार यि=३०००, और गि=३००। हो सकता है कि स्थान-

[1] इन अक्षरों को वर्गाक्षर कहने का कारण यह है, कि वे पाँच-पाँच अक्षरों के वर्गों (समूहों) में बाँट दिये गये है।

[2] जब दो व्यञ्जन एक साथ एक स्वर से जोड़ दिये जाते है, तब उन दोनों व्यंजनों द्वारा प्रदर्शित अंकों का संबन्ध एक ही 'वर्गावर्ग' के जोड़े से रहता है; और वे दोनों अंक आपस में जोड़ दिये जाते है। जैसे इस उदाहरण में, ङम=ङ+म =५+२५=३०।

सूचक शून्य, जो पहले ही लिख लिये जाते थे, मिटा दिये जाते हों और उनके स्थान में अक्षरों द्वारा प्रदर्शित अंक रख दिये जाते हों। इस प्रकार अंकहीन स्थानों में स्वयं ही शून्य बचे रहेंगे। जब ऐसा नहीं किया जाता, और शून्यों के नीचे अंक लिखे जाते हैं, तब अंकहीन स्थानों में शून्य रखना पड़ेंगे।[1] अठारह से अधिक अंकों की संख्या होने पर, अनुस्वार युक्त स्वरों की कल्पना करके, अथवा किसी दूसरी युक्ति से, आगे के स्थानो को लिखकर उपर्युक्त क्रिया की जा सकती है।

इस पद्धति मे एक अच्छाई यह है कि संख्या सूचक शब्द बहुत छोटे बनते हैं। परंतु यह अच्छाई इसके दो बहुत बड़े अवगुणों के सामने दब जाती है। पहला अवगुण यह है कि उस पद्धति की अक्षर संख्याओं को उच्चारण करना बहुत कठिन है। कुछ अक्षर-संख्याएँ[2] तो इतनी जटिल हैं कि उनका उच्चारण हो ही नहीं सकता। दूसरे अवगुण के कारण इस पद्धति की अक्षर-संख्याओं में विविधता भी नहीं आने पाती, जो कि अन्य पद्धतियों मे संभव है।

कटपयादि पद्धति

इस पद्धति में संख्याओं को व्यंजित करने के लिए, १ से लेकर ९ अंकों और शून्य के अर्थ में संस्कृत वर्णमाला के व्यंजनों का प्रयोग किया गया है। इस पद्धति की अक्षर संख्याएँ छोटी होती है और उच्चारण में प्रायः मधुर होती हैं। चतुर लेखक तो ऐसी अक्षर सख्याएं बनाने मे सफल हुए है कि जिनके प्रयोग से अर्थ का तारतम्य भी बना रहता है। यह पद्धति आर्यभट की अक्षर-पद्धति तथा शब्दांक-पद्धति दोनों से श्रेष्ठ है। भारतवर्ष मे इस पद्धति के चार प्रकारों का प्रयोग मिलता है। कदाचित् इसी अनेकरूपता के कारण ही यह पद्धति सामान्य प्रयोग में नहीं आयी।

[1] यहाँ पर हम आर्यभटीय (१. ३) से कुछ उदाहरण दे रहे हैं:

	ऋ	उ	इ	अ	
	० ०	० ०	० ०	० ०	
ख्युघृ	घ्	य्	ख्		
	४	३	२	० ० ०	०=४३२००००
चयगियिङ्शुछलृ	ल्	छ्	श्	ङ् य् ग् य्	च्
	५	७	५	३ ३ ३	६=५७७५३३३६

[2] उदाहरणार्थ, निशिबुगृलृखृ, भवि्लक्नुखृ, इत्यादि।

पहला प्रकार

कटपयादि पद्धति का पहला प्रकार सद्रत्नमाला के निम्न श्लोक में वर्णित है :

नञावचश्च शून्यानि संख्याः कटपयादयः।
मिश्रे तूपान्त हल् संख्या न च चिन्त्यो हलस्वरः॥

अर्थात्, "न, ञ, और स्वर शून्य-सूचक हैं; क्, ट्, प् और य् से आरम्भ होने-वाले व्यंजन (क्रम से १, २, ३,... आदि) संख्याओं को सूचित करते हैं। मिश्र-व्यंजनों में (केवल) स्वर-युक्त अंतिम व्यंजन संख्या-सूचक होता है; स्वर-रहित व्यंजनों से संख्या न समझना चाहिए।"

अतएव इस पद्धति के अनुसार

क्, ट्, प्, य्	अंक १	को	सूचित	करते हैं।
ख्, ठ्, फ्, र्	,, २	,,	,,	,,
ग्, ड्, ब्, ल्	,, ३	,,	,,	,,
घ्, ढ्, भ्, व्	,, ४	,,	,,	,,
ङ्, ण्, म्, श्	,, ५	,,	,,	,,
च्, त्, ष्	,, ६	,,	,,	,,
छ्, थ्, स्	,, ७	,,	,,	,,
ज्, द्, ह्	,, ८	,,	,,	,,
झ्, ध्	,, ९	,,	,,	,,
ञ्, न् और केवल स्वर	,, ०	,,	,,	,,

स्वर-युक्त व्यंजनों का अंकों के स्थान में प्रयोग उसी भांति होता है जैसे स्थान-मान संकेत में। संयुक्त व्यंजनों में केवल अंतिम व्यंजन का अंकात्मक मान होता है। अक्षर-संख्याओं की रचना में दाहिनी ओर से बायीं ओर के क्रम का प्रयोग किया जाता है, जैसे कि शब्दांक-पद्धति में होता है, अर्थात्, इकाईवाला अंक पहले लिखा जाता है, उसके बाद दहाईवाला, उसके बाद सैकड़ेवाला, इत्यादि। निम्न उदाहरण, जो अंतर्लेखों, दानपत्रों, और हस्तलिपियों से उद्धृत किये गये हैं, इस पद्धति का स्वरूप स्पष्ट कर देंगे :

(१)[1] २ ४ ४ १
रा - घ - वा - य = १४४२,

(२)[2] ४ ४ ६
भ - व - ति = ६४४,

(३)[3] ५ १ ३ १
श - त्या - लो - के = १३१५,

(४)[4] ६ ४ ३ १
त - त्वा - लो - के = १३४६,

(५)[5] २ ३ १ ५ ६ ५ १
ख - गो - त्या - न्मे - ष - मा - पे = १५६५११३२।

इस पद्धति के उद्गम की खोज ५वीं शताब्दी पीछे तक की जा सकती है। सूर्यदेव के एक कथन[6] से, जो उनकी आर्यभटीय-व्याख्या में मिलता है, यह प्रतीत होता है कि यह पद्धति आर्यभट प्रथम को ज्ञात थी।

दूसरा प्रकार

आर्यभट द्वितीय (लगभग ९५० ई०) ने उपर्युक्त पद्धति के एक सुधरे हुए रूप का प्रयोग किया है। इस प्रकारान्तर में व्यंजनों के वही मान हैं जो ऊपर बताये जा चुके हैं, परन्तु केवल स्वरों या व्यंजन युक्त स्वरों का कोई संख्यात्मक मान नहीं है। और पहले प्रकार के विपरीत, मिश्र व्यजन के प्रत्येक व्यंजन का स्थान क्रम के अनुसार अंकात्मक मान होता है। अक्षर संख्याओं

[1] एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द ६, पृ. १२१।
[2] इंडियन ऐंटिक्वेरी, २, पृ. ३६०।
[3] एपिग्रैफिया इंडिया, ३, पृ. २२९।
[4] एपिग्रैफिया इंडिका, ३, पृ. ३८।
[5] यह षड्गुरुशिष्य की सर्वार्थानुक्रमणी-व्याख्या का रचना काल है, जो कलियुग-संवत् में है। इस का संगत ई० सन् ११८४ है।
[6] देखिए, दशगीतिका के परिभाषा-सूत्र की सूर्यदेव-कृत व्याख्या। सूर्यदेव लिखते हैं: "वर्गाक्षराणां संख्याप्रतिपादने कटपयादित्वं नञ्यायेश्च शून्यत्वमपि सिद्धं, तन्निरासार्थं कात् ग्रहणम्।" अर्थात्, "वर्गाक्षरों की सहायता से संख्या प्रतिपादन करने में क्-ट्-प्-य् आदि का संख्यात्व और न् तथा ञ् का शून्यत्व प्रसिद्ध है; अतएव उस पद्धति का खण्डन करने के हेतु 'क से आरम्भ करके' कहा गया है।"

में अक्षरों का क्रम बायीं ओर से दाहिनी ओर को होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी संख्या को अंकों में लिखने में अंकों का क्रम होता है।[1] दोनों प्रकारों का अन्तर, अक्षर-संख्या ढ-ज-हे-कु-न-हे-त्-स-भा[2] से स्पष्ट किया जा सकता है। आर्यभट द्वितीय के अनुसार यह अक्षर-संख्या ४८८१०८६७४ संख्या को सूचित करती है, और प्रथम प्रकार के अनुसार ४७८०१८८४ संख्या को सूचित करती है।

तीसरा प्रकार

इस पद्धति का तीसरा प्रकारान्तर ब्रह्मा में प्राप्त पाली भाषा की कुछ हस्तलिपियों में देखने को मिलता है।[3] यह पद्धति सभी बातों में पहले प्रकार की पद्धति के समान है, अन्तर केवल इतना है कि इस पद्धति में स्=५, ह्=६ और ळ्=९। इन अक्षरों के अंकात्मक मानो में अन्तर होने का कारण कदाचित् यह है कि पाली वर्णमाला में श और ष अक्षरों का अभाव है।

चौथा प्रकार

चौथा प्रकार वह है जो दक्षिण भारत में प्रचलित था, और केरल-पद्धति के नाम से विख्यात है। यह भी पहले प्रकार के सदृश है; अन्तर केवल इतना है कि इस पद्धति के अनुसार बनी हुई अक्षर-संख्याओं में अक्षरों का क्रम बायी ओर से दाहिनी ओर को होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी संख्या को अंकों में लिखने में अंकों का क्रम होता है।

अक्षरपल्ली

प्राचीन हस्तलिपियों के पत्रांकन में जिन अंक-सूचक अक्षरादि का प्रयोग मिलता है, उनके आकारों और क्रमों में विविध प्रकार की विलक्षणताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इन अंक-सूचक अक्षरों को अक्षरपल्ली, अर्थात् अक्षर-पद्धति,

[1] महासिद्धान्त (१. २) में इस पद्धति का विवरण इस प्रकार दिया गया है:

रूपात् कटपयपूर्वा वर्णा वर्णक्रमाद्भवंत्यंकाः।
ञ्नौ शून्यं प्रथमार्थे आ छेदे ऐ तृतीयार्थे॥

[2] महासिद्धान्त, १, १०।

[3] एल० डी० बार्नेट, जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०७, पृ० १२७ आदि।

कहते हैं।[1] इस पद्धति में अंकों को सूचित करने के लिए उसी भाषा के अक्षरों का प्रयोग करते हैं जिस भाषा में हस्तलिपि लिखी रहती है। नीचे हम प्राचीन हस्तलिपियों में प्राप्त होने वाले अंकसूचक अक्षरादि की एक सूची दे रहे हैं।[2]

१ =ए, स्व, ऊँ

२ =द्वि, स्ति, न।

३ =त्रि, श्री, मः।

४ =ङक, ङ्क, ङका, ण्क, र्ण्क, ष्क, र्ष्क, (ष्के),

 फ्र, पु।

५ =तॄ, तॄं, तॄा, नॄं, ह्न, नॄ।

६ =फ्र, फ्रं, फ्रु, घ्र, भ्र, र्पु, व्या, पल।

७ =ग्र, ग्रा, ग्रां, ग्र्भ्रां, ग्र्गा, भ्र।

८ =ह्न, ह्नं, ह्नां, द्र।

९ =ओं, उं, उँ, उं, ऊ, अ, नुं।

१० =लृ, लॄं, ळ, ण्ट, डा, अ, र्त्ता।

२० =थ, था, र्थ, र्था, घ, र्घ, प्व, व।

३० =ल, ला, र्ल, र्ला।

४० =प्त, र्प्त, प्ता र्प्ता, प्न।

५० = णू।

६० =चु, वु, घु, थु, र्थु, थू, र्थू, र्घ, र्घु, घ्।

७० =चु, चू, थू, र्थू, र्घू, र्स्त।

८० =[3] पु।

९० = [4]

१००=सु, सू, लु, अ।

२००=सु, सू, र्सू, आ, लू, र्घू।

[1] आकारों के लिए सारिणियाँ देखिए।

[2] देखिए ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १०७ आदि।

[3] यह उपध्मानीय का चिह्न है।

[4] यह भी उपध्मानीय का चिह्न है।

३०० = स्ता, सू, ञ्ा, सा, सु, सु सू।

४०० = सो, स्तो, स्ता।

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि एक ही अंक को सूचित करने के लिए विभिन्न प्रकार के अक्षरों का प्रयोग किया गया है। यह विभिन्नता बहुधा अल्प है और जान-बूझकर की गयी है, और कदाचित् अंक-सूचक अक्षरो और साधारण अक्षरों का भेद प्रदर्शित करने के लिए है। कुछ अन्य अवस्थाओं में अन्तर बहुत अधिक है, जो (बूलर के अनुसार) प्राचीनतर चिह्नों को अशुद्ध पढ़ने के कारण अथवा भिन्न-भिन्न भाषाओं मे उच्चारण-भेद होने के कारण उत्पन्न हो गया है। हस्तलिपियों के पत्रांकन में, अक्षर-संख्याओं को पत्रों के हाशिए पर लिखने की प्रथा है। स्थानाभाव के कारण इन अक्षर-संख्याओं के अंक चीनी-पद्धति के अनरूप एक दूसरे के नीचे लिखे रहते है। यही प्रथा बावर हस्तलिपि में भी है, जो छठी शताब्दी में लिखा गया था। बाद की हस्तलिपियों में, पत्रांकन में, अक्षरपल्ली और दशमलव दोनों पद्धतियों के अंकों का प्रयोग मिलता है। कभी-कभी तो इन अंकों का सम्मिश्रण भी कर दिया गया है, जैसा कि निम्न उदाहरणों मे है:[1]

$$३३ = \begin{matrix}\text{ला}\\ ३\end{matrix}\ ; \quad १०० = \begin{matrix}\text{सु}\\ ०\\ ०\end{matrix}\ ; \quad १०२ = \begin{matrix}\text{सु}\\ ०\\ २\end{matrix}\ ;$$

$$१३१ = \begin{matrix}\text{सु}\\ \text{ला}\\ १\end{matrix}\ ; \quad १५० = \begin{matrix}\text{सु}\\ \mathbf{6}\\ ०\end{matrix}\ ; \quad २०९ = \begin{matrix}\text{सु}\\ ०\\ \text{उ}\end{matrix}\ ।$$

अक्षरपल्ली का प्रयोग जैन हस्तलिपियों मे सोलहवी शताब्दी तक मिलता है। उस समय के बाद दशमलव पद्धति के अंकों का ही प्रायः प्रयोग हुआ है। मालाबार मे अक्षरपल्ली से मिलती-जुलती पद्धति का प्रयोग आज भी होता है।[2]

[1] देखिए ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १०८।

[2] इस पद्धति के अक्षरांक यह है :—
१=न, २=श्र, ३=न्य, ४=ष्क, ५=इ्र, ६=हा (ह), ७=ग्र, ८=प्र, ९=द्रे (?), १०=म, २०=ठ, ३०=ल, ४०=प्त, ५०=ब, ६०=त्र, ७०=रु (त्रु), ८०=च, ९०=ण, १०००=ञ्ा।
देखिए जर्नल ऑव दि रॉयल ऐस्ट्रानामिकल सोसायटी, १८९६, पृ० ७९०।

अन्य अक्षर पद्धतियां

(अ) दक्षिण भारत (मालाबार और आंध्र), लंका, ब्रह्मा और स्याम में प्राप्त कुछ हस्तलिपियों में अंक-संकेत की एक अन्य पद्धति का प्रयोग मिलता है जिसमें संस्कृत वर्णमाला के १६ स्वरों और ३४ व्यंजनो से अंक सूचित किये गये हैं। 'अ' स्वर से युक्त ३४ व्यंजन क्रम से १ से लेकर ३४ अंकों को सूचित करते हैं; 'आ' स्वर युक्त ३४ व्यंजन क्रम से ३५ से लेकर ६८ अंकों को सूचित करते हैं; इत्यादि।[1]

(ब) लंका से प्राप्त कुछ पाली हस्तलिपियों में एक अन्य पद्धति का प्रयोग है।[2] इस पद्धति में १६ स्वरयुक्त 'क' क्रमानुसार १ से लेकर १६ अंकों को सूचित करते है; १६ स्वर युक्त 'ख' क्रमानुसार १७ से लेकर ३२ अंकों को सूचित करते है; इत्यादि। इस प्रकार क=१, का=२, कि=३, की=४, कु=५, कू=६, कृ=७, कॄ=८, कऌ=९, कॡ=१०, के=११, को=१२, कै=१३, कौ=१४, कं=१५, कः=१६; इत्यादि।

(स) वियना इंपीरिअल लाइब्रेरी में सुरक्षित एक पाली हस्तलिपि में इसी प्रकार का अन्य संकेत मिलता है जिसमें संस्कृत वर्णमाला के १२ स्वरों[3] और ३४ व्यंजनों का प्रयोग है। इस पद्धति में १२ स्वर युक्त 'क' क्रमानुसार १ से लेकर १२ अंकों को सूचित करते हैं; १२ स्वर 'ख' क्रमानुसार से १३ से लेकर २४ अंको को सूचित करते हैं; इत्यादि।

इन पद्धतियों का प्रयोग, उत्तरी भारत में कम से कम तीसरी शताब्दी के बाद नहीं हुआ। इन का आविष्कार कदाचित् हस्तलिपियों के लिपिकारों ने किया था।

१२. शून्य का सांकेतिक चिह्न

प्रारंभिक प्रयोग

शून्य के सांकेतिक चिह्न का प्रयोग पिंगल (लगभग २०० ई० पू०) ने अपने **छंदःसूत्र** नामक छदःशास्त्र के ग्रंथ में किया था। उन्होंनें इस प्रश्न का

[1] बर्नेल, साउथ इंडियन पैलियोग्रैफी, लंदन, १८७८, पृ० ७९।
[2] पूर्वोक्त ग्रंथ।
[3] ऋ, ॠ, ऌ और ॡ स्वर छोड़ दिये गये हैं।

हल दिया है कि दो वस्तुएँ 'न' स्थानों पर कितने प्रकार से स्थापित की जा सकती हैं, जबकि दोनों वस्तुओं का प्रयोग एक से अधिक बार किया जा सकता हो। पिंगल द्वारा कल्पित दो वस्तुएँ लघु और गुरु मात्राएँ है, जो क्रमशः 'ल' और 'गु' से सूचित की गयी हैं। यह ज्ञात करने के लिए कि लघु और गुरु मात्राओं का प्रयोग करके 'न' मात्राओं वाले छंद कितने प्रकार के बन सकते हैं, पिंगल ने छोटे-छोटे सूत्रों मे निम्न नियम का कथन किया है:

"आधा करने पर, अंक २ (स्थापित करो);"[१] "१ घटाने पर, शून्य (स्थापित करो);"[२] "शून्य होने पर, २ से गुणा करो;"[३] "आधा करने पर, वर्ग करो"[४]।

उपर्युक्त सूत्रों का अर्थ नीचे दी हुई गणना से स्पष्ट हो जायगा। यह गणना गायत्री छंद के लिए है जिसमें ६ मात्राएँ होती हैं।[५]

अक स्थापन करने पर	अ ६		ब
आधा करने पर	३	अतएव २ स्थापित करने पर	२
३ को आधा करने पर पूर्ण-संख्या नहीं मिलती अतएव उसमें से १ घटाने पर	२	अतएव शून्य स्थापित करने पर	०
आधा करने पर	१	अतएव २ स्थापित करने पर	२
१ का अर्धीकरण न हो सकने से, १ घटाने पर	०	अतएव शून्य स्थापित करने पर	०

शून्य बचने से क्रिया समाप्त हो गयी।

[१] पिंगल छन्दः सूत्र, श्री सीताराम द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८-४०, ८२८।
[२] पूर्वोक्त, ८.२९।
[३] पूर्वोक्त, ८.३०।
[४] पूर्वोक्त, ८.३१।
[५] ७ मात्राओं के लिए, निम्न क्रिया है:

१ घटाने पर	६;	अतएव स्थापन	०	दूना करने पर	१२८
आधा करने पर	३;	,, ,,	२	वर्ग करने पर	६४
१ घटाने पर	२;	,, ,,	०	दूना करने पर	८
आधा करने पर	१;	,, ,,	२	वर्ग करने पर	४
१ घटाने पर	०;	,, ,,	०	१ (का) दूना करने पर	२

अतएव १२८ उत्तर है।

उपर्युक्त स्थापन के बाद गणना का आरम्भ 'ब' कोष्ठक के सबसे नीचेवाले अंक ० से होगा। अपने पास अंक १ की कल्पना करके, ० के स्थान में उसे दूना करो; इस प्रकार २ प्राप्त होगा। २ के स्थान में उसका वर्ग करो, इस प्रकार $२^२$ प्राप्त होगा। पुनः ० के स्थान में उसे दूना करो, इस प्रकार $२^३$ प्राप्त होगा। अन्ततः २ के स्थान में उसका वर्ग करो, इस प्रकार $२^६$ अर्थात् ६४ प्राप्त होगा। अतः ज्ञात हुआ कि २ वस्तुओं का ६ स्थानों में स्थापन ६४ प्रकार से किया जा सकता है।

उपर्युक्त गणना में दो प्रकार की क्रियाओं, अर्थात् (१) आधा करने की क्रिया और (२) आधा न होने पर १ घटाने की क्रिया, का अन्तर बतलाने के लिए दो प्रकार के संकेतों की आवश्यकता पड़ती है। इन दो प्रकार के संकेतों के लिए किन्हीं दो अभीष्ट चिह्नों का प्रयोग किया जा सकता था।[1] प्रश्न यह उठता है कि "पिंगल ने इन दो संकेतों के लिए '२' और '०' का ही प्रयोग क्यों किया है? संकेत '२' तो आसानी से समझाया जा सकता है, क्योंकि अर्धीकरण की क्रिया से दो का—अर्थात् दो से भाग करने का आभास होता है। दूसरे संकेत 'शून्य' का प्रयोग कदाचित् इसलिए किया गया था, कि उस समय शून्य का प्रयोग 'अभाव' या 'घटाने' के अर्थ में होता था। इन दोनों अर्थों मे शून्य का प्रयोग भारतीय ग्रंथों में प्राचीन काल से मिलता है। पिंगल का उल्लेख दर्शित करता है कि हिन्दू लोगों के पास २०० ई० पू० के पूर्व शून्य का सांकेतिक चिह्न था, उसका स्वरूप चाहे जो रहा हो।

बक्षाली हस्तलिपि (३०० ई०) मे भी, गणना करने में, शून्य का प्रयोग किया है। उदाहरणतः, पत्र ५६ (ब) में लिखा है—

" $\left|\begin{matrix}८८०\\८४\end{matrix}\right|\left|\begin{matrix}९६४\\१६८\end{matrix}\right|$; गुणा करने पर मिला $\left|\begin{matrix}८४८३२०\\१४११२\end{matrix}\right|$; अलग रखे हुए ४० का वर्ग है $\left|\begin{matrix}१६००\end{matrix}\right|$; इसको अंश मे घटाने पर मिला $\left|\begin{matrix}८४६७२०\\१४११२\end{matrix}\right|$; अपवर्तन करने पर मिला $\left|\begin{matrix}६०\end{matrix}\right|$ ।"

[1] उदाहरणार्थ, पृथूदकस्वामी ने 'व' (=वर्ग) और 'गु' (=गुण) का प्रयोग किया है, तथा महावीर ने ६ और ० अंकों का प्रयोग किया है। आगे देखिए।

उक्त ग्रंथ में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। इन उदारणों को देखने पर विदित होगा कि यदि उनमे से अंक निकाल लिये जायँ तो प्रयुक्त वाक्य निरर्थक हो जायँगे। अतएव ग्रंथ की मूल रचना के समय ही उन अंकों का समावेश किया गया होगा। इसमें सदेह नही कि वे बाद के प्रक्षेप नहीं हैं। शून्य का स्पष्ट उल्लेख तथा उसका गणना मे प्रयोग दिखाने के लिए हम उसी ग्रंथ से निम्नलिखित अंश उद्धृत करते हैं:

" | ० | २ | ३ | ४ | दृश्य २००[1] 'शून्य में १ जोड कर.[2]'
| १ | १ | १ | १ | १

(सूत्र का प्रयोग करने पर) प्राप्त हुआ १ । २ । ३ । ४ ।....."[3]

पंच-सिद्धान्तिका (ल० ५५० ई०) मे कई स्थानों पर शून्य का उल्लेख है। एक उदाहरण यह है :

"मेष राशि (के सात ज्याखडों) मे (प्रत्येक मे) ७ और अन्तिम (आठवें ज्याखंड) मे ६; वृषराशि (के आठ ज्याखडों) मे क्रमशः ६, ६, ६, ५, ५, ५, ४ और ४; और मिथुन राशि (के आठ ज्याखडों) मे क्रमशः ३, ३, २, २, १, १, ०, ० कलाएं होती हैं।"[4]

यहाँ पर शून्य को उसी प्रकार का अक कल्पित किया गया है जैसे १, २, ३, इत्यादि होते है। यदि इसका कोई अन्य अर्थ किया जायगा तो सगत न होगा। उक्त ग्रंथ मे छंद-रचना की सुविधा के लिए संख्याओं को प्रकट करने मे शून्य को जोडने और घटाने का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरणतः

[1] हस्तलिपि में शून्यों के स्थान में बिन्दुओं (.) का प्रयोग किया गया है। आधुनिक प्रणाली के अनुसार इसको इस प्रकार लिखेंगे —

य+२य+३य+४य=२००।

[2] मूल में 'युतं' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[3] बक्षाली हस्तलिपि, पत्र २२ (ब)।

[4] पंच-सिद्धान्तिका, ४, १२।

"२, ३, ९, १२, ९, ३ और ० को (अलग अलग) ३६ में जोड़ने पर दिन प्राप्त होते हैं।"[१]

इस प्रकार के उदाहरण, सब के सब, **पंचसिद्धान्तिका** उन्हीं भागों में मिलते हैं जो **पुलिश-सिद्धान्त** से संबन्ध रखते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐसे वाक्य पुलिश-सिद्धान्त के ही उद्धरण हैं। अतएव बिना किसी कठिनाई के यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य पुलिश शून्य के अंकात्मक मान से अवगत थे। यह तो बतलाया ही जा चुका है कि उन्होंने शब्दांकों का प्रयोग किया था।

वराहमिहिर के समकालीन लेखक जिनभद्र गणि (५२९-५८९) की रचनाओं में शून्य के अंकात्मक प्रयोग के निर्णयात्मक प्रमाण मिलते हैं। शून्य-गर्भित बड़ी-बड़ी संख्याओं का वर्णन करने में, लाघव की दृष्टि से, उन्होंने प्रायः यह बतलाया कि उन संख्याओं में शून्य की पुनरावृत्ति कितने बार हुई है। उदाहरणतः, उन्होंने २,२,४,४०,००,००,००० को इस प्रकार लिखा है—'बाईस, चवालीस आठ शून्य'[२]; और ३२,००,४०,००,००,००० को इस प्रकार—'बत्तीस दो शून्य चार आठ शून्य'[३]। उसी ग्रंथ में अन्य स्थान पर

$$२४१९६०\frac{४०७१५०}{४८३९२०} = २४१९६०\ \frac{४०७१५}{४८३९२}$$

का वर्णन इस प्रकार है—

"दो लाख इकतालीस हजार नौ सौ साठ; शून्य से अपवर्तन करने पर अंश है चार-शून्य-सात-एक-पाँच और हर है चार-आठ-तीन-नौ-दो।"[४]

यह ध्यान देने की बात है कि 'अपवर्तन' शब्द का तात्पर्य वही है जो आजकल की अंकगणित में 'किसी भिन्न को, उसके अंश और हर को उभयनिष्ठ गुणनखंड

[१] पंच-सिद्धान्तिका, अध्याय १८, श्लोक ३५; इस प्रकार के अन्य उदाहरण निम्नलिखित स्थलों पर भी हैं: ३. १७; ४. ७; ४. ८; ४. ११; १८. ४४; १८. ४५; १८. ४८; १८. ५१।

[२] बृहत्-क्षेत्र-समास, मलयगिरि कृत टीका के साथ संपादित, बंबई, १.६६।

[३] पूर्वोक्त ग्रंथ, १. ७१। अन्य उदाहरण इन स्थलों पर हैं—१. ६०, ६७, १०२, १०८, ११३, ११६, इत्यादि।

[४] पूर्वोक्त ग्रंथ, १. ८३।

से भाग देकर संक्षिप्त रूप में परिणत करने का' होता है। अतएव जिनभद्र गणि का शून्य, अभाव-प्रदर्शक भावना मात्र नहीं है बल्कि निस्संदेह उससे तात्पर्य गणित के अंक-सूचक चिह्न से है।

जिनभद्र गणि के समकालीन सिद्धसेन गणि ने उमास्वातिकृत **तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र** पर अपनी टीका में, गणित करने में, शून्य का प्रयोग किया है जो कि निम्न-लिखित दो आदर्श उदाहरणों से प्रमाणित होता है:[1]

".....शेष है ३५,३४,४०,००,००,०००। इसका वर्ग निकालते है: आठ शून्यों के आधे ४ शून्य होते है; शेष का वर्गमूल है १८८; अतएव इष्ट वर्गमूल हुआ १८,८०,०००० ।"

"चार शून्यों को हटाने पर, उसके बाद लब्धि मिलती है १,००,००० ।"

भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ने अपनी महाभास्करीय में शून्य को घटाने की चर्चा की है। अपने आर्यभटीय-भाष्य मे उन्होंने स्थान-मान युक्त अंकों का, शून्य के साथ, प्रयोग किया है। जैसा बताया जा चुका ह, उन्होंने अंक-स्थानों को सूचित करने के लिए भी शून्यों का प्रयोग किया है।

अंकगणित और बीजगणित के सभी उपलब्ध भारतीय ग्रन्थों मे एक प्रकरण शून्य के परिकर्मों से सम्बन्ध रखता है, जिसमें मूल और घात की क्रियाएँ सम्मि-लित रहती हैं। इन परिकर्मों का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा, परन्तु यहाँ पर इस बात की ओर संकेत किया जा सकता है कि शून्य के गाणितिक परिकर्म तभी संभव हो सकते हैं जब सांकेतिक चिह्न के द्वारा प्रदर्शित अंक के रूप में शून्य का अस्तित्व पहले से ही स्वीकार कर लिया जाय।[2]

[1] **उमास्वाति-कृत** तत्वार्थाधिगम सूत्र, **स्वयंकृत टीका युत, सिद्धसेन-गणि की व्याख्या सहित, एच. आर. कापडोया द्वारा संपादित, बम्बई १९२६, ३. ११ (व्याख्या)।**

[2] **स्मिथ और कार्पिंस्की** (हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स, पृ० ५३) **लिखते है: "महावीराचार्य के गणित-सार-संग्रह में, जबकि यह ग्रंथ स्थान-मानवाले अंकों का प्रयोग नहीं करता, इसी प्रकार का शून्य-सम्बन्धी विवेचन है।" इस कथन का पहला भाग अशुद्ध है, क्योंकि महावीर ने हमेशा स्थान-मान वाले अंकों का प्रयोग किया है। वस्तुतः गणित-सार-संग्रह में स्थान-मान से रहित अंकों का चिह्न भी नहीं मिलता। जे० ट्राप्के का कथन** (गैशिस्टे डेर एलीमेंटरी मैथे-

शून्य का आकार

प्राचीन ग्रंथों के उपर्युक्त उद्धरण निर्णयात्मक रूप से प्रमाणित करते है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों से शून्य की गणना अंकों में की जाती थी और उसे सूचित करने का एक सांकेतिक चिह्न भी था। इस सांकेतिक चिह्न का आकार क्या था, सन्देहात्मक है। बक्षाली हस्तलिपि मे शून्य के लिए बिंदु का प्रयोग किया गया है; परन्तु इस ग्रंथ की उपलब्ध प्रति आठवीं या नवीं शताब्दी की है, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त आकार वही है जो बक्षाली हस्त-लिपि की मूल रचना के समय (अर्थात् तीसरी शताब्दी या पहले) प्रयोग किया जाता था। शून्य-विंदुओं का उल्लेख महाकवि सुबन्धु की रचनाओं मे भी मिलता है। उनके वासवदत्ता नामक काव्य मे एक स्थान पर तारों की उपमा शून्य बिन्दुओं से दी गयी है –

"निमीलित होते हुए नीलकमल के व्याज से रचे हुए अंजलिपुट के द्वारा, उदय होते हुए चन्द्रमा को नमस्कार सा करते हुए अन्धकार का आगमन हुआ। उसी समय गगन-रूपी महासर मे कुमुदों के समूह का सन्देह उत्पन्न करनेवाले तारे प्रकाशित हुए, मानों विश्व की गणना करते हुए ब्रह्मा ने शशि-रूपी खड़िया के टुकड़े से आकाशरूपी काले अजिन पर, ससार के अत्यन्त शून्य होने के कारण, शून्य-विन्दुओ को लिख दिया हो।"[1]

शून्यसूचक विन्दु का त्याग कर दिये जाने के बहुत समय बाद भी जब शून्य के अर्थ मे सामान्य रूप से लघुवृत्त का प्रयोग होता था, शब्दांको मे तथा बाद के साहित्य मे[2] शून्य के लिए बिन्दु शब्द का प्रयोग किया जाता था। अतएव

मेटिक, जिल्द २, १९२६, पृ० ५६) कि १७वीं शताब्दी के पूर्व शून्य की गणना अंकों में नहीं की जाती थी, अशुद्ध है। देखिए बी० दत्त, "अर्ली लिटरेरी एवीडेन्स ऑव दि यूस ऑव दी जीरो इन इंडिया", अमेरिकन मैथेमेटिकल मंथली, ३८, १९३१, पृ० ५६९।

[1] सुबन्धुकृत वासवदत्ता, एफ० हॉल द्वारा संपादित (कलकत्ता, १८५९, पृ० १८२) और लुई एच० ग्रे द्वारा अँगरेजी मे अनुवादित (न्यूयार्क, १९१३, पृ० ९९ आदि)।

[2] उदाहरणतः, हिन्दी के कवि बिहारी लिखते है :

कहत सबै बेंदी दिये, आँक दस गुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत ॥ (बिहारी सतसई, दोहा ४१)

सुबन्धु की वासवदत्ता से उद्धृत किया हुआ उपर्युक्त अवतरण इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता कि सुबन्धु के समय में शून्य के सांकेतिक चिह्न के रूप में बिन्दु का प्रयोग होता था। केवल इतना अनुमान किया जा सकता ह कि सुबन्धु के पूर्व किसी समय बिन्दु का प्रयोग होता था। हम यहाँ तक कहने के लिए बढ़ सकते है कि अधिक सम्भव है कि शून्य का सबसे प्राचीन सांकेतिक चिह्न बिन्दु था, न कि लघुवृत्त।

शून्य के प्रयोग का प्राचीनतम पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाण आठवीं शताब्दी के जयवर्द्धन द्वितीय के रघोली पट्टों[1] मे मिलता है। भोजदेव[2] के शासनकाल मे लिखे गये ग्वालियर के अन्तर्लेखो मे भी शून्य का प्रयोग किया गया है। इन अन्तर्लेखों में शून्य का आकार लघुवृत्त है। यही आकार बहुत प्राचीन समय मे, कदाचित् आठवीं शताब्दी के पूर्व से, सामान्य रूप से प्रचलित है।

शून्य-सूचक चिह्न के अन्य प्रयोग

भारतवर्ष में आधुनिक पाठशाला के विद्यार्थी को इकाई, दहाई, सैकडा इत्यादि अंक स्थानों के नाम सिखाये जाते है और उन स्थानों को पंक्तिबद्ध शून्यों के द्वारा सूचित करने को कहा जाता है। ये शून्य निम्न प्रकार से लिखे जाते है :

... .०००००००००००००

शिक्षक दाहिनी ओर के प्रथम शून्य को इगित करता है और कहता है है 'इकाई'; तब उसके बादवाले शून्य को इंगित करता है और कहता है 'दहाई'; इत्यादि। विद्यार्थी शिक्षक की बात को दुहराता है। अंक-स्थानों को शून्यों द्वारा सूचित करने की यह पद्धति भास्कर प्रथम के समय तक देखने को मिलती है। भास्कर प्रथम ने, जैसा बताया जा चुका है, अपने आर्यभटीय भाष्य मे स्थानों को शून्यों द्वारा प्रदर्शित करने के विषय में लिखा है :

"स्थानों का लेखन (करने पर मिलता है)

०० ०० ०००००० "

अंकगणित (पाटीगणित) के सब ग्रंथों में अज्ञात राशि को प्रदर्शित करने के लिए शून्य का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार का प्रयोग तीसरी शताब्दी

[1] पीछे दी हुई सूची में नं० ४।
[2] पीछे दी हुई सूची में नं० १९ और २०।

तक देखने को मिलता है। बक्षाली हस्तलिपि में अज्ञात राशि के स्थान में शून्य का स्थापन किया गया है। बीजगणित में तो अज्ञात राशि के लिए सदैव से अक्षरों का प्रयोग हुआ है। प्रतीत होता है कि अंकगणित में अज्ञात राशि के स्थान में शून्य का प्रयोग वस्तुतः राशि के अभाव को सूचित करने के लिए किया जाता था; बीजगणित के बीज 'य' ($\mathcal{Y}$) की भाँति वह शून्य सांकेतिक चिह्न न था, क्योंकि उसका प्रयोग केवल प्रश्न के न्यास में ही किया गया है, बीजगणित के संकेतों की भाँति गणना में नहीं। शून्य का यह प्रयोग अधिकतर पंचराशिक, सप्तराशिक आदि अनुपात के प्रश्नों में ही मिलता है। अरबवालों ने भी हिन्दुओं के प्रभाव के कारण ऐसे ही प्रश्नों में अज्ञातराशि को सूचित करने के लिए शून्य का प्रयोग किया है। अज्ञातराशि को सूचित करने के लिए शून्य का इसी प्रकार का प्रयोग यूरोप में गॉटफ्रिड वोलक के कुछ व्याख्यानों की लेटिन हस्तलिपि में मिला है। ये व्याख्यान एर्फुर्ट विश्वविद्यालय में १४६७-६८ में दिये गये थे।[1]

भास्कर प्रथम ने ऋण चिह्न को सूचित करने के लिए भी शून्य का प्रयोग किया है। उदाहरणतः, उन्होंने अपने **आर्यभटीय-भाष्य** में $\frac{१}{२} - \frac{१}{६}$ को निम्न प्रकार से लिखा है :

$$\left|\begin{matrix} १ & १ \\ २ & ६० \end{matrix}\right|^{२}$$

बाद के लेखकों नें अंक के ऊपर बिन्दु रखकर अंक के ऋणत्व को सूचित किया है। ऐसी परिस्थिति में 'लघुवृत्त' या 'विन्दु' घनत्व के अभाव को प्रदर्शित करता है। बिन्दु का ऐसा ही प्रयोग अरब और यूरोप मे भी देखने को मिलता है, जिसका कारण स्पष्टतया हिन्दू प्रभाव है।[2]

[1] **स्मिथ और कार्पिंस्की**, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ५३-५४।

[2] आर्यभटीय-भाष्य, अध्याय २, श्लोक २७ (ii)।

[3] **कला (या विकला) का अभाव प्रदर्शन करने के लिए, अलबटानी द्वारा अरबी ऋण चिह्न 'ला' का प्रयोग, जिसका उल्लेख नलिनो** (फेरहाण्ड-लुंगेन डेस ५ कांग्रेसेज डेर ओरियंटलिस्टेन, **बर्लिन**, १८८२, **जिल्द** २, पृ० २७१) **ने किया है, भारतीय ऋण-चिह्न, विन्दु के ही सदृश है।**

१३. भारतीय साहित्य में स्थान-मान संकेत

जैन आगम ग्रंथ

'अंकस्थान' शब्द के प्रयोग का प्राचीनतम साहित्यिक प्रमाण अनुयोग-द्वार-सूत्र[1] नामक जैन-ग्रंथ में मिलता है, जो ईसवी सन् के पहले का लिखा हुआ है। इस ग्रंथ में संसार के समस्त जीवों की संख्या इस प्रकार बतलायी गयी है :"(लोक के जीवों की संख्या) कोटि-कोटि आदि संज्ञाओं की सहायता से अंकों में व्यक्त करने पर २९ स्थान लेती है।" 'अंकस्थानो' का उल्लेख तत्सामयिक ग्रंथ व्यवहार-सूत्र[2] में भी आया है।

पुराण

पुराणों में भी, जो अंशत: धार्मिक और अंशत: ऐतिहासिक ग्रंथ हैं, अंक-स्थान और स्थान-मान सिद्धान्त के उल्लेख आये है। इन ग्रंथों के निर्माण का उद्देश्य जनसाधारण में धार्मिक और ऐतिहासिक बातों के ज्ञान का प्रसार करना था। इन ग्रंथों में स्थान-मान सिद्धान्त के उल्लेख मिलने से सिद्ध होता है कि उनके लेखकगण इस पद्धति को महत्त्व देना चाहते थे।

वायु-पुराण[3] में अंकस्थानों का निम्न उल्लेख है :

"ये गणित के अठारह स्थान है। महर्षियों का कथन ह कि इस प्रकार स्थानों की संख्या सैकड़ों हो सकती है।"

अग्नि-पुराण[4] में स्थान-मान सिद्धान्त का निम्न वर्णन है :

"इकाई से आरम्भ करके, प्रत्येक स्थान का मान पूर्वगामी स्थान से दस गुना होता है।"

[1] इस अवतरण का विस्तारपूर्वक उद्धरण किया जा चुका है। पीछे देखिए, पृ० १२।

[2] अध्याय १; देखिए बी० दत्त, सियंसिया जुलाई, १९३१, पृ० ८।

[3] अध्याय १०१, श्लोक १०२ आदि।

एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणनाविधौ॥ १०२ (ii)
शतानीति जिनीयात्संज्ञितानि महर्षिनिः। १०३ (i)

[4] अग्निपुराण में स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार शब्दांकों का भी प्रयोग मिलता है। देखिए पीछे, पृ० ५४।

विष्णु-पुराण[1] में भी इसी प्रकार का स्थान-मान सिद्धान्त का वर्णन है:

"हे द्विज! एक स्थान से दूसरे स्थान का मान क्रमशः दस गुना होता है। अठारहवाँ स्थान परार्ध कहलाता है।"

ऊपर उद्धृत किये गये तीन पुराण सबसे प्राचीन पुराण हैं। अग्नि और वायु पुराण, अपने आधुनिक रूप में, चौथी शताब्दी के आस-पास के हैं। वायु पुराण तो कुछ विद्वानों के मत से प्रथम या दूसरी शताब्दी का है।

दार्शनिक ग्रंथ

शान्तरक्षित-कृत तत्त्वसंग्रह के टीकाकार कमलशील (छठी शताब्दी) ने वसुमित्र के निम्नलिखित दृष्टान्त को उद्धृत किया है:[2]

"जिस प्रकार मिट्टी की गोली इकाई के स्थान में होने पर १ को सूचित करती है (दहाई के स्थान में होने पर १० को), सैकड़े के स्थान में होने पर १०० को, और हजार के स्थान में होने पर १००० को, उसी प्रकार....।"

वसुमित्र का समय १०० ईसवी माना जाता है। अतएव उपर्युक्त उद्धरण निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि स्थान-मान का सिद्धान्त पहली शताब्दी ईसवी के अंत तक इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि दार्शनिक ग्रंथों में दृष्टान्त के रूप से इसका प्रयोग किया जाने लगा था।

उपर्युक्त दृष्टान्त बाद के दार्शनिक ग्रंथों मे भी मिलता है। उदाहरणार्थ, पतंजलि-कृत योगसूत्र के व्यास-भाष्य[3] में यह निम्नलिखित शब्दों में दिया गया है:

"जिस प्रकार एक ही रेखा सैकडे के स्थान में होने पर सौ, दहाई के स्थान में होने पर दस, और इकाई के स्थान में होने पर एक कहलाती है।"[4]

यही दृष्टान्त शंकराचार्य के शारीरक-भाष्य में इस प्रकार है:

[1] अंश ६, अध्याय ३, श्लोक ४।

[2] तत्त्वसंग्रह (श्लो० १७८७-१७९०) पर कमलशील की टीका देखिए।

[3] पाद ३, सूत्र १३ का भाष्य।

[4] जे० एच० वुड्स ने (दि योग सिस्टेम ऑव पतंजलि, पृ० २१६ फुट-नोट) कुछ अवतरणों के सम्बन्ध में, जिसमें यह भी सम्मिलित है, लिखा है: "मिस्टर जी० आर० के की सम्मति के विपरीत, निम्नलिखित अवतरण प्रदर्शित करते है कि दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त छठीं शताब्दी ई० में ज्ञात था।" ऊपर दिये हुए अवतरण को सर पी० सी० रे ने भी उद्धृत किया है। देखिए हिस्ट्री ऑव हिन्दू केमिस्ट्री, जिल्द २, पृ० ११७।

"जैसे, यद्यपि रेखा एक ही है तो भी स्थान-भेद के कारण उसका मान एक, दस, हजार इत्यादि हो सकता है।"[1]

उपर्युक्त दो ग्रंथों में से पहला अधिक से अधिक छठी शताब्दी का है और दूसरा अधिक से अधिक आठवी शताब्दी का है।

साहित्यिक ग्रंथ

सुबन्धु कृत वासवदत्ता के अवतरण का जिसमें तारों की उपमा शून्य-विन्दुओं से दी गयी है, उल्लेख किया जा चुका है। बाद के साहित्य में शून्य के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं, परन्तु उन्हें यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है।

१४. स्थान-मान सिद्धान्त के आविष्कार का समय [2]

अब हम स्थान-मान संकेत के प्रारंभिक प्रयोग से संबंध रखनेवाले विभिन्न प्रमाणों का सारांश दे रहे हैं :

(१) स्थान-मान पद्धति के प्रयोग का पुरालेख-सम्बन्धी प्राचीनतम प्रमाण छठी शताब्दी के अन्त का है।

(२) शब्दांकों के साथ स्थान-मान सिद्धान्त का प्राचीनतम प्रयोग तीसरी या चौथी शताब्दी का है। ऐसा प्रयोग अग्नि-पुराण, बक्षाली हस्तलिपि और पुलिश-सिद्धान्त में मिलता है।

(३) गणित के ग्रंथ में स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग सर्वप्रथम बक्षाली-हस्तलिपि में हुआ है जिसमें संख्याओं को लिखने में इसका प्रयोग किया गया है। स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग आर्यभटीय में तथा बाद के सब ग्रंथों में हुआ है।

(४) साहित्य में स्थान-मान सिद्धान्त का उल्लेख १०० ई० पू० से हुआ है। तीन उल्लेख तो पुराणों में मिलते हैं जो तीसरी से चौथी शताब्दी तक के लिखे हुए हैं, और तीन उल्लेख दार्शनिक ग्रथों मे मिलते हैं जिनमें से एक लगभग १०० ई० का है।

(५) शून्य के सांकेतिक चिह्न का प्रयोग पिंगल के छन्दःसूत्र में मिलता है जो २०० ई० पू० के लगभग लिखा गया था।

[1] ३. ३. १७; देखिए बी० दत्त, अमेरिकन मथेमेटिकल मंथली, ३३, १९२६, पृ० २२०-१।

[2] उदाहरणतः, श्रीहर्षकृत नैषधचरित (लगभग १२वीं शताब्दी) में शून्य-बिन्दु का प्रयोग आया है। देखिए बी० दत्त, पूर्वोक्त, पृ० ४४९-४५४।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग साहित्यिक और गणितेतर ग्रंथों में, गणित के ग्रंथों की अपेक्षा, बहुत पहले हुआ। ठीक यही आशा भी की जा सकती है। क्योंकि इस सिद्धान्त के आविष्कार होने के बाद कुछ समय तक इसका प्रयोग केवल बड़ी-बड़ी संख्याएँ लिखने में किया गया होगा। उसके बाद बहुत समय, ऐसी संख्याओं द्वारा गणित की क्रियाएँ करने के नियमों को बनाने में लगा होगा। सिद्धान्त के पूर्णतया विकसित हो जाने पर ही गणित के ग्रंथों में इसके प्रयोग की आशा की जा सकती है। अतएव गणितेतर ग्रंथों में मिलनेवाले इस सिद्धान्त के प्रयोग के प्रमाण, गणित के ग्रंथों की अपेक्षा प्राचीन होने ही चाहिए।

गणित के ग्रंथ इतने टिकाऊ नहीं होते जितने धार्मिक या साहित्यिक ग्रंथ। ज्यों ही इस विषय का उत्तमतर ग्रंथ क्षेत्र में आ जाता है, पुराने ग्रंथ का अध्ययन रोक दिया जाता है। वस्तुतः गणित के नये ग्रंथ का निर्माण इसी उद्देश्य से होता है कि वह पुराने ग्रंथ की खराबियों को दूर करके उसका स्थान ग्रहण कर ले। सम्भव है कि आर्यभट प्रथम के पहले ऐसे ग्रंथ रहे हों जिनमें स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग हुआ हो, परन्तु उनका त्याग कर दिया गया और अब वे अप्राप्य हैं। १६०० वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद अब ऐसे ग्रंथों की प्रतियों को प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ है।

यूरोप और अरब में ऐसे ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करना आज भी संभव है जिनमें प्राचीन अंकों का प्रयोग या प्राचीन और नवीन अंकों का मिला हुआ प्रयोग किया गया था, परन्तु भारतवर्ष मे ऐसे ग्रंथों का लेशमात्र भी चिह्न नहीं मिलता।

यूरोप में स्थान-मान सिद्धान्त के प्रयोग के निश्चित प्रमाण सर्वप्रथम दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में मिलते हैं, परन्तु दशमलव अंकों का सामान्य प्रयोग वहाँ सत्रहवीं शताब्दी में ही हुआ। भारतवर्ष में तो आर्यभट प्रथम (४९९ ई०), भास्कर प्रथम (६२९ ई०), ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०), और लल्ल, (८वी शताब्दी) सभी ने दशमलव अंको का ही प्रयोग किया है। उनके ग्रंथों में किसी अन्य संकेतों का चिह्न भी नहीं मिलता। यूरोप के दृष्टान्त को लेकर, केवल हिन्दू-गणितीय ग्रंथों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि स्थान-मान सिद्धान्त भारतवर्ष में लगभग २०० ई० पू० में ज्ञात रहा होगा।

क्योंकि साहित्यिक प्रमाण भी हमें उसी काल में ले जाते हैं, इसलिए हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि स्थान-मान सिद्धान्त २०० ई० पू० के लगभग भारतवर्ष में ज्ञात था। अतएव यदि हम दशमलव स्थान-मान संकेत और शून्य के कोई

आविष्कार होने का समय २०० ई०पू० निर्धारित करे, तो अधिक अशुद्धि न होगी। सम्भव है कि आगे चलकर कोई ऐसा प्रमाण मिल जाय कि हमें बाध्य होकर इससे वे का समय निर्धारित करना पड़े।

१५. अरब में हिन्दू अंक[1]

अरब लोगों का क्रमबद्ध इतिहास ६२२ ई० से आरम्भ होता है जब मोहम्मद साहब मक्का से मदीना को गये थे। इस्लाम धर्म के फैलते ही अरब प्रायद्वीप की बिखरी हुई जातियाँ एक हो गयी और परिणामस्वरूप एक शक्तिशाली राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ ही काल में इन संगठित अरबों ने उत्तरी अफ्रीका और स्पेन प्राय द्वीप के समस्त भाग पर विजय प्राप्त की और पूर्व की ओर भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा पर्यन्त अपने राज्य का विस्तार किया। अनायास ही उन्होंने बंजारों की तरह घूमना बन्द कर दिया, और उच्चकोटि की सभ्यता को ग्रहण किया।

अरब साहित्य और विज्ञान की नींव ७५० ई० और ८५० ई० के बीच में डाली गयी। यह कार्य विशेषतः विदेशी सामग्री और विदेशी लोगों की सहायता से हुआ। उनके वणिक साहित्य का अधिकाश फारसी से अनुवाद के रूप मे आया। रणविद्या, शस्त्रास्त्र-विद्या, पशुचिकित्सा शास्त्र, श्वेनपालन विद्या, तथा विविध प्रकार के शकुन-ग्रथ एवं आयुर्वेद-शास्त्र की कुछ पुस्तकें संस्कृत और फारसी से अनूदित हुईं। यथार्थ विज्ञान उन लोगों को यूनान और भारतवर्ष से मिले।

मोहम्मद साहब के समय से पूर्व अरबवालों के पास संतोषजनक अंक संकेत न थे। परन्तु विजित देशों के आर्थिक शासन से संबंध रखनेवाली अनेक गणनाओं ने विकसित अंक संकेत के प्रयोग को अनिवार्य बना दिया। कुछ स्थानों में अधिक सभ्य विजित जातियों क अंकों का भी कुछ काल तक प्रयोग हुआ। इस प्रकार सीरिया में यूनानी अंक संकेत और मिस्र मे काप्टिक अंक संकेत का प्रयोग यथावत् स्थापित रक्खा गया। खलीफा वालिद (६९९ ई०) की राजकीय घोषणा जिसके अनुसार राजकाज मे यूनानी भाषा का प्रयोग करना मना किया गया था, परन्तु अरबी भाषा में अपने अंक न होने के कारण अंकों को सूचित करने के लिए यूनानी

[1]विस्तृत विवरण के लिए कजोरी-कृत हिस्ट्री ऑव मैथेमेटिक्स और स्मिथ और कार्पिंस्की कृत हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स देखिए।

अक्षरों के प्रयोग का विशेष रूप से अपवाद किया गया था इसी प्रारम्भिक काल से संबंध रखती है।[1] धीरे-धीरे करके अक्षर संकेत में अरबी अक्षरों ने यूनानी अक्षरों का स्थान ग्रहण कर लिया और इस प्रकार अबजद-संकेत का प्रादुर्भाव हुआ। कदाचित् अरब लोगों को भारतीय अंकों का ज्ञान सेबोख्त-जैसे विद्वानों की रचनाओं से एवं प्राचीन गोबार संकेतों का ज्ञान अन्य सूत्रों से हुआ हो। परन्तु चूंकि उनके संवाददाता सब आवश्यक सूचना नहीं दे सके (उदाहरणतः, अंकगणित में परिकर्मों की क्रिया उन्हें विदित न थी), अतएव उन अंकों के गणित में प्रयोग होते-होते लगभग एक शताब्दी और बीत गई।

खलीफा अलमंसूर (७५३-७७४ ई०) के राज्य-काल के समय में सिन्ध से बगदाद को कुछ दूत गये थे, जिनमें कुछ विद्वान् भी थे जो अपने साथ गणित के कई ग्रंथ, जिनमें ब्रह्मगुप्त रचित ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त एवं खण्डखायक भी सम्मिलित थे, ले गये थे। इन विद्वानों की सहायता से अलफजारी ने और कदाचित् याकूब इब्न तारिक ने भी, उनका अरबी में अनवाद किया था। दोनों ही ग्रंथों का खूब प्रयोग किया गया और अरबी गणित पर उनका विशेष प्रभाव पड़ा। यही अवसर था जब अरब लोग पहले-पहल वैज्ञानिक प्रणाली की ज्योतिष के सम्पर्क में आये। इस विषय के सभी विद्वान लेखकों का विचार है कि ठीक इसी समय हिन्दू अंकों का अरब में निश्चित रूप से प्रवेश हुआ। मालूम होता है कि प्रारम्भ में अरब लोगों ने गोबार अंकों को प्रयुक्त किया जिनको उन्होंने पहले से ही अलेक्जेन्ड्रिया के निवासियों से प्राप्त किया था (परन्तु इनमें शून्य सम्मिलित न था) अथवा उन सीरिया निवासियों से प्राप्त किया था जो बगदाद के खलीफा लोकों के यहाँ अनुवाद का काम करते थे। अलख्वारिज्मी (८२५ ई०) ने, जो कि अंकगणित के प्रारम्भिक अरब लेखकों में से था, गोबार अंकों का ही प्रयोग किया।[2] परन्तु अधिक समय व्यतीत होने के पहले ही अरब लोगों ने यह अनुभव किया कि गोबार अंक दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जानेवाली उनकी लिपि के अनुकूल नहीं है। प्रतीत होता है कि उसके बाद अधिक अनुकूल पड़नेवाले अंकों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया।

[1]. देखिए थियोफेन्स (७५८-८१८ ई०) कृत क्रोनोग्रैफिया; स्क्रिप्टोरेस हिस्टॉरिये बैजन्टाइने, जिल्द ३६, बोन्नाने, १८३६, पृ० ५७५; स्मिथ कार्पिंस्की द्वारा पूर्वोक्त ग्रंथ में पृ० ६४ की टिप्पणी में उद्धृत।

[2]. स्मिथ और कार्पिंस्की, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ६८।

परन्तु चूँकि लोग गोबार अंकों के प्रयोग मे अभ्यस्त हो चुके थे, अतएव उनका परित्याग करना उन्हें अखरता था। परिणाम-स्वरूप गोबार अंकों और नवीन अंकों के बीच एक झगड़ा-सा[1] उठ खड़ा हुआ जो लगभग दो (१०वीं और ११वीं) शताब्दियों तक चलता रहा, जब तक कि अधिक अनुकूल पड़नेवाले अंक सामान्य प्रयोग में न आ गये। फिर भी पश्चिम अरब के निवासियों ने संशोधित अंकों के प्रयोग को स्वीकार नहीं किया और गोबार अंकों का ही प्रयोग यथावत् स्थापित रखा, और इस प्रकार वे गोबार अंकों को जाग्रत यूरोप में प्रवेश कराने में समर्थ हो सके। आधुनिक अरबी अकों तथा आधुनिक यूरोपीय अंकों के आकार-भेद का कारण अब तक उपस्थित किये गये अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा उपर्युक्त स्पष्टीकरण से अधिक अच्छी तरह समझ मे आता है।

वेपके महोदय द्वारा प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त मे उपर्युक्त आकार-वैषम्य को समझाने के लिए निम्नलिखित कल्पनाएँ की गयी है :

(१) ईसा की दूसरी शताब्दी में, जब शून्य का आविष्कार नही हुआ था, भारतीय अंक अलेक्जेन्ड्रिया को लाये गये थे और वहाँ से उनका रोम और पश्चिमी अफ्रीका में प्रसार हुआ था।

(२) आठवीं शताब्दी में जब शून्य के आविष्कार के कारण भारतीय अंक-संकेत अत्यंत परिष्कृत और उन्नत हो चुके थे बगदाद के अरबों ने उन्हें हिन्दुओं से प्राप्त किया था।

(३) पश्चिमी अरब के निवासियों ने शून्य को पूर्वी अरबों से प्राप्त किया, परन्तु उन्होंने अपने प्राचीन अंको के प्रयोग को ज्यों का त्यों स्थापित रखा, जिसका

[1] एक लिखित प्रमाण, जिसे वेपके ने उद्धृत किया है, बड़े महत्त्व का है, क्योंकि उससे इस बात का प्रदर्शन होता है कि ९७० ई० में गोबार अंकों के साथ-साथ अरबी अंकों का प्रयोग होता था। उक्त ग्रंथ का नाम है 'अंक सम्बन्धी मनोहर और सुन्दर प्रश्न', और इसे अहमद इब्न मोहम्मद इब्न अब्दुल्जलील अबू सईद, अल् सिज्जी (९५१-१०२४ ई०), ने नजीफ इब्न यम्न, अल् कास (मृत्यु ९९० ई०), नामक हकीम उल्मुल्ला की किसी पुस्तक से नकल किया था। स्प्रेन्जर ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है (जाइट्श्रृफ्ट डेर ड्वायसेनमॉर्गेन-लेण्डिशेन गेसेलशाफ्ट, जिल्द ४५, पृ० ३६७)। अली इब्न अहमद अलनसावी (लगभग १०२५ ई०) लिखता है कि उसके समय में अंकों के आकार का निर्णय नहीं हुआ था (स्मिथ और कार्पिंस्की, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ९८)।

यदि कोई अन्य कारण न भी रहा हो तो भी कम से कम अपने राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वियों से वैषम्य स्थापित रखना अवश्य था।

(४) पश्चिमी अरब के निवासियों को यह स्मरण था कि प्राचीन अंक भारतीय उत्पत्ति के हैं, अतएव वे लोग उन अंकों को गोबार अंक कहते थे।

(५) आठवीं शताब्दी के अनन्तर भारतवर्ष में अंकों के आकारों में पुनः परिवर्तन हुए और उन्होंने अत्यंत परिष्कृत आधुनिक देवनागरी अंकों का आकार ग्रहण किया।

इसमें सन्देह नहीं कि ईसा की दूसरी शताब्दी में भारतीय अंक अलेक्जेन्ड्रिया निवासियों को ज्ञात थे। परन्तु यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किन कारणों से अलेक्जेन्ड्रियावालों ने इन अंकों का प्रयोग किया और उनका ज्ञान बनाये रखा? जहाँ तक हम लोगों को विदित है, उन लोगों के पास अपने निजी अंक भी थे। तब क्या कारण है कि उन्होंने विदेशी अंकों को अधिक पसन्द किया? इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक हम यह कल्पना न कर लें कि ९ अंक संकेतों के साथ-साथ स्थान-मान सिद्धान्त और कदाचित् शून्य भी अलेक्जेन्ड्रियावालों को बताया गया था। परन्तु इस निगूढ़ सिद्धान्त का स्वागत करने को वे तैयार न थे, अतएव उन्होंने केवल नौ अंकों को ग्रहण किया और एबैकस पर उनका प्रयोग किया। वहाँ से वे अंक रोम और पश्चिमी अफ्रीका को पहुँचाये गये थे।

दूसरी कल्पना कि अरबवालों ने ८वीं शताब्दी के भारतीय अंकों को ग्रहण किया तथ्यों से अनुमोदित नहीं होती। अरबी की प्राचीन हस्तलिपियों में मिलनेवाले अंक, आठवीं शताब्दी के भारतीय अंकों की अपेक्षा, गोबार अंकों, या आधुनिक अरबी अंकों से अधिक समता रखते हैं। वस्तुतः इस बात पर विश्वास करने के अनेक कारण हैं कि भारतीयों के सीधे सम्पर्क में आने से बहुत पहले ही अरबवाले स्थान-मान एवं शून्य से रहित गोबार अंकों का जानते थे, तथा शून्य को उन्होंने केवल ७५० ई० के लगभग ही ग्रहण किया।

१६. यूरोप में हिन्दू अंक

ब्वैथिअस समस्या

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हिन्दू अंकों का प्रवेश यूरोप में कब और कैसे हुआ। ये अंक प्रथम बार ब्वैथिअस (ल० ५०० ई०) की क्षेत्रगणित की एक हस्तलिपि में मिलते हैं, जो कि ईसा की १०वीं शताब्दी की बतायी जाती

है। इस पुस्तक की अनेक अन्य हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं और सभी मे अंक विद्यमान हैं। कुछ हस्तलिपियों में तो शून्य भी मिलता है। यदि ये हस्तलिपियाँ (अथवा इन हस्तलिपियों के वे भाग जिनमें अंक विद्यमान हैं) प्रामाणिक मानी जायँ, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू अंक ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रायः अन्तिम काल तक यूरोप में प्रविष्ट हो चुके थे। कुछ विद्वानों के मत से ब्वेथिअस की क्षेत्रगणित के अंक-सम्बन्धी अवतरण जाली है। इन लोगों के तर्क का सारांश निम्नलिखित है :

(१) प्रस्तुत अवतरण ग्रंथ के मुख्य विषय, अर्थात् क्षेत्रगणित से, कोई सम्बन्ध नहीं रखते। ब्वेथिअस की अंकगणित मे हिन्दू अंकों की चर्चा नहीं है। किसी अन्य स्थान पर उसने उनका प्रयोग नही किया है। न समकालीन कैपेला (लगभग ४७५ ई०) ने अथवा ब्वेथिअस के ग्रथों से परिचित किसी अन्य मध्यकालीन लेखक ने उन अंकों का उल्लेख किया है।

(२) हिन्दू अंक-संकेत की सिद्धि भारतवर्ष मे पाँचवीं शताब्दी के बहुत समय बाद हुई थी; अतएव यदि हिन्दू अंक व्यापारिक मार्गों द्वारा यूरोप को ले भी जाये गये हों, तो भी वे पश्चिम के अंकों से श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकते थे, और इसलिए वे ब्वेथिअस का ध्यान आकर्षित नही कर सकते थे।

उपर्युक्त तर्कों मे से दूसरा वास्वविकता के विरुद्ध है, क्योंकि अब यह सिद्ध हो चुका है कि हिन्दू अंक-संकेत, जिसमे शून्य सम्मिलित था, ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में उन्नत अवस्था को पहुँच चुका था तथा भारतवर्ष में प्रचलित था। अतएव वे अंक ईसा की पाँचवीं शताब्दी अथवा पहले ही व्यापारिक मार्गो द्वारा सरलतापूर्वक यूरोप पहुँच सकते थे। पहला तर्क बिलकुल काल्पनिक है और ब्वेथिअस की क्षेत्रगणित में मिलनेवाले अंकों की प्रामाणिकता पर सदेह उत्पन्न करता है। इससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। जब उक्त ग्रंथ की सभी प्राप्त हस्तलिपियों में अंक उपलब्ध हैं, तब उन अंकों के अस्तित्व की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट करना अनुचित प्रतीत होता है। क्षेत्रगणित में उन अंकों की उपलब्धि को हम यह कहकर समझा सकते हैं कि उन अंकों के विषय में ब्वेथिअस का ज्ञान अत्यल्प था। उसने उन अंकों को किसी न किसी स्रोत से प्राप्त किया था—चाहे पैथागोरस के नवीन संप्रदायवादियों से, अथवा किसी व्यापारी से, अथवा किसी पर्यटनशील विद्वान से—परन्तु वह उनका प्रयोग नहीं जानता था। सम्भव है कि स्थान-मान सिद्धान्त और शून्य की सहायता से वह बड़ी-बड़ी संख्याओं को लिख लेता हो, परन्तु

यह निश्चित है कि वह उनके द्वारा साधारण गाणितिक क्रियाएँ करने की विधि नहीं जानता था। अतएव वह अंकगणित में अथवा किसी अन्य ग्रंथ में उनका प्रयोग न कर सका। सेबोख्त[1] (ल० ६५० ई०) के ग्रंथों से स्पष्ट है कि भारतीय अंकों का पश्चिम में निश्चित रूप से प्रचार होने से बहुत पहले ही उनकी ख्याति वहाँ पहुँच चुकी थी। अतएव ब्वेथिअस के द्वारा पश्चिम में हिन्दू अंकों के प्रचार का प्रश्न तब तक अनिर्णीत ही समझा जाना चाहिए जब तक आगे के अनुसंधान इसका कोई निश्चित निर्णय न कर दें।

निश्चित प्रमाण

सर्वप्रथम लेखक जिसने ईसाई यूरोप में गोबार अंकों का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया था गर्बर्ट नाम का एक फ्रान्सीसी भिक्षु था। गर्बर्ट प्रसिद्ध विद्वान था। इटली में वह कई उच्च पदों पर रह चुका था और पोप के पद के लिए उसका निर्वाचन हुआ था (९९९ ई०)। तीन वर्ष तक वह स्पेन में भी रहा था। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसको गोबार अंक कहाँ से प्राप्त हुए। कुछ लोगों का कथन है कि उसे वे अंक स्पेन में मूरों द्वारा मिले, अन्य लोग कहते हैं कि किसी अन्य स्रोत, सम्भवतः किसी व्यापारी, से मिले। गर्बर्ट को ये अंक सुन्दर नहीं प्रतीत हुए (और उचित ही, क्योंकि उनमें न तो शून्य ही था और न स्थान-मान), और उसने 'रेगुला डे एबैको कम्प्यूटी ऐण्ड दि लिबेलस' नामक ग्रंथों में रोमन अंकों का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गर्बर्ट के समय तक स्थान-मान सिद्धान्त यूरोप को विदित नहीं हुआ था।

७११ ई० के 'जरेज डे ला फ्रांटेरा' के युद्ध में गॉथ लोगों की शक्ति पूर्णरूप से छिन्न-भिन्न हो गयी। ठीक उसी समय मूर लोग स्पेन के स्वामी हो गये और ५०० वर्ष पर्यन्त उसके स्वामी बने रहे। आधुनिक अंक-संकेत के सिद्धान्त का ज्ञान, जो कि ८वीं शताब्दी के मध्य तक निश्चय ही बगदाद पहुँच चुका था अवश्यमेव स्पेन पहुँचा होगा और वहाँ से उसका प्रवेश यूरोप के अन्य देशों में हुआ होगा। कारडोवा, ग्रेनाडा और टोलेडो में मूरों द्वारा स्थापित स्कूल सम्पूर्ण मध्यकाल में विद्या के सुप्रसिद्ध केन्द्र थे जो यूरोप के सभी भागों के विद्यार्थियों को आकर्षित करते थे। इस प्रकार यद्यपि यूरोप अपने अंकों के लिए मूरों का प्रत्यक्ष ऋणी न भी रहा हो, तो भी उस सुप्रसिद्ध सिद्धान्त के लिए मूरों का वह अवश्य ऋणी है जिसके कारण साधारण गोबार अंकों की महिमा रोमन अंकों से बढ़ गयी।

आधुनिक अंक-संकेत सिद्धान्त के कतिपय उदाहरण बारहवीं शताब्दी में यूरोप में मिलते हैं, परन्तु प्रतीत होता है कि तेरहवीं शताब्दी से पहले उनके प्रचार का कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किया गया। सम्भवतः पीसा नगर के निवासी ल्योनार्डो फिबोनकी ही ऐसा व्यक्ति था जो इन अंकों को फैलाने में अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। ल्योनार्डो का पिता बारबरी के समुद्र तट पर स्थित बुगिया (आधुनिक बौगी) नाम के नगर में अढ़तिया था। यह नगर उस समय के श्रेष्ठतम बन्दरगाहों में से था, तथा बारहवीं शताब्दी के अन्त में अफ्रीका के व्यापार का केन्द्र था। यहीं पर किसी मूर गुरु से ल्योनार्डो की शिक्षा हुई थी। युवक होने पर उसने रूमसागर के देशों का पर्यटन किया; उसने सीरिया, ग्रीस, इटली और प्रोवेन्स आदि देशों को देखा; वहाँ के विद्वानों से तथा व्यापारियों से मुलाकात की; और उस समय के व्यापारी केन्द्रों में प्रचलित अंक-पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त किया। उसका कहना है कि वे सभी पद्धतियाँ हिन्दुओं की पद्धति के सामने दोष-पूर्ण थीं। पीसा नगर को लौटने पर १२०२ ई० में उसने 'लिबर एबैकी' नाम की पुस्तक लिखी, जिसको १२२८ ई० में उसने दूसरी बार लिखा।[1] इस पुस्तक में उसने हिन्दू अंकों को समझाया है और व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली साधारण गणनाओं में उनका प्रयोग किया है। प्रारम्भ में ल्योनार्डो की पुस्तक का जन-साधारण में स्वागत नहीं हुआ, कारण यह था कि वह व्यापारियों के लिए अत्यन्त ऊँचे दर्जे की थी और विश्वविद्यालयों के लिए अत्यन्त साधारण थी। तो भी कालान्तर में लोगों ने उसका महत्त्व अनुभव किया और तब हम देखते हैं कि उसे तत्कालीन गणितीय साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ।

अन्य लेखकों में, जिनके ग्रंथों से भारतीय अंकों के प्रसार में सहायता मिली, अलेक्जेन्डर डे विला डी (ल० १२४० ई०) और जॉन ऑव हैलीफाक्स (ल० १२५० ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

एबैकस के प्रयोग करनेवालों ने, जो शून्य का प्रयोग नहीं करते थे, हिन्दू अंकों के प्रसार का डट कर विरोध किया। परन्तु ल्योनार्डो सरीखे व्यक्तियों की लेखनी ने उन लोगों के मुँह बन्द करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की, यद्यपि इसमें दो-तीन शताब्दियाँ लग गयी। पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य तक

[1] स्मिथ और कार्पिंस्की, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १३१।

पश्चिमी यूरोप के सभी राष्ट्रों ने सामान्य रूप से इन अंकों को ग्रहण कर लिया था, परन्तु उनका सामान्य प्रयोग केवल सत्रहवीं शताब्दी में ही हुआ।

१७. हिन्दू अंकों के विविध उल्लेख

सीरिया के उल्लेख

सेवेरस सेबोख्त (६६२ ई०) के ग्रंथ से उद्धृत निम्नलिखित अवतरण[1] से प्रदर्शित होता है कि सातवीं शताब्दी के आरम्भ में ही हिन्दू अंकों की ख्याति यूफ्रेटिज नदी के तट तक पहुँच चुकी थी। सेबोख्त सीरिया देश का एक विद्वान था जो पेट्रियार्क अथेनेसियस गमेनली (मृत्यु ६३१ ई०) और उसके उत्तराधिकारी जॉन के समय में, यूफ्रेटिज नदी के तट पर केनेशर के बनवाये मठ में रहता था।[2] प्रतीत होता है कि सेबोख्त कुछ यूनानी विद्वानों की धृष्टता से आहत था, जो सीरिया-वालों को नीची दृष्टि से देखते थे; और सीरियावालों की रक्षा करने में वह उन्हें ज्योतिष के आविष्कार का गौरव प्रदान करता है। वह कहता है कि यूनानी लोग बैबिलन नगर के निवासी खाल्दियन लोगों के शिष्य हैं और वे खाल्दियन लोग ही सीरिया वाले हैं जिन्हें यूनानी लोग बदनाम करते हैं। इसी सिलसिले में दृष्टान्त के रूप मे वह हिन्दुओं का उल्लेख करता है और कहता है :

"मैं हिन्दुओं के शास्त्रों के सभी विवेचन को छोड़ता हूँ—उन हिन्दुओं के जो सीरियन लोगों से भिन्न हैं—न उनकी विज्ञान विषयक विलक्षण गवेषणाओं के विषय मे कहूँगा जो यूनानी लोगो की गवेषणाओं की अपेक्षा अधिक कौशलपूर्ण है, और न उनकी वर्णनातीत गणना के विषय मे ही। मै केवल यह कहना चाहता हूँ कि यह गणना नौ चिह्नों की सहायता से की जाती है। यदि वे लोग, जो केवल यूनानी भाषा बोलने के कारण ही यह समझते है कि वे विद्या की सीमा पर पहुँच चुके है, इन बातों को जानें तो उन्हें विश्वास हो जायगा कि उन लोगों के अतिरिक्त भी ऐसे लोग हैं जो कुछ जानते हैं।"

[1] इस अवतरण की ओर सर्वप्रथम एफ० नऊ ने ध्यान आकर्षित किया था। देखिए जर्नल एशियाटिक, २, १९१०, पृ० २२५-२२७; जे० जिन्सबुर्ग, बुलेटिन अमेरिकन मैथमेटिकल सोसायटी, २३,१९१७, पृ० ३६८।

[2] डब्ल्यू० राइट, शार्ट हिस्ट्री ऑव सिरिअक लिटरेचर, पृ०१३७-१३९।

यह उद्धरण स्पष्टतया प्रदर्शित करता है कि सेवोस्त हिन्दू अंकों से केवल परिचित ही नहीं था बल्कि उसे उनके विषय में पूर्ण ज्ञान भी था और सम्भवतः रब्बो बेन एजरा की भाँति वह शून्य से भी अवगत था, यद्यपि उसने भी केवल नौ अंकों की ही चर्चा की है। वस्तुतः आज भी हम केवल नौ अंकों की ही चर्चा करते हैं, शून्य की गणना अंकों में नहीं करते।

अरब के उल्लेख

इब्न वहशिया (८५५ ई०) 'प्राचीन वर्णमाला एव हिएरोग्लिफिक लिपि का स्पष्टीकरण इत्यादि' नामक अपनी पुस्तक में इब्न वहशिया ने तीन प्रकार के भारतीय अंकों का एवं तीन प्रकार की भारतीय वर्णमाला के स्वरूपों का वर्णन किया है।[1] प्रतीत होता है कि ये स्वरूप उस समय अरब मे भली भाँति ज्ञात थे। पहले प्रकार के स्वरूपों मे उस समय अरब लोगों में प्रचलित प्रथा के अनुरूप शून्य के स्थान मे विन्दु का प्रयोग किया गया है;[2] दूसरे प्रकार के स्वरूपों मे विन्दु को मोटा कर दिया गया है; और तीसरे प्रकार के स्वरूपों मे अंकसूचक चिह्नों मे एक चक्र जोड़ दिया गया है।[3] कार्पिस्की का विचार है कि चक्रों का प्रयोग इब्न वहशिया का आविष्कार है।

जाहिज (मृत्यु ८६९ ई०)

अरब के दार्शनिक जाहिज ने अकों को 'हिन्द के स्वरूप' कहा है और लिखा है कि इन अंकों की सहायता से बडी-बड़ी संख्याएं सरलता से लिखी जा सकती हैं। वह प्रश्न करता है: "हिन्द के स्वरूपों का आविष्कारक कौन है? सिद हिन्द (ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त) और अरकन्द (खण्डखाद्यक) के रचयिता एवं शून्य की सहायता से गणना करने की विधियो के प्रणेता कौन है?"[4]

[1] **कार्पिस्की**, बिब्लियोथेका मैथेमेटिका, १३, १९१२–१३, पृ० ९७-८।

[2] **भारतवर्ष में मिलने वाली कुछ हस्तलिपियों में भी इसी प्रकार के विन्दुओं का प्रयोग मिलता है। देखिए आर० एल० मित्र, नोटिसेज ऑव सस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ५, पृ० २९९, मैनुस्क्रिप्ट नं० १९७६, पट्ट नं० १; इंडिआ आफिस कटलॉग, मैनुस्क्रिप्ट नं० १९४६, १९४७ और १८७१।**

[3] **यह स्वरूप उन भारतीय संयुक्ताकों के सदृश है जो उस समय लिखे जाते थे जब स्थान-मान का प्रयोग नहीं होता था। पीछे देखिए।**

[4] **जाहिज के ग्रंथ का फ्रांसीसी अनुवाद उपलब्ध है (काएरे, दु रों ए दु कार्रे १३२४)। देखिए कैरा डे वो, सियंसिया, २१, १९२१, पृ० २७३-२८२।**

अबुल हसन अल-मसऊदी (९४३ ई०)

अरब का इतिहासकार अल-मसऊदी लिखता है: "सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के आदेशानुसार ऋषियों के एक परिषद् ने नौ अंकों तथा ज्योतिष आदि शास्त्रों का निर्माण किया।"[1] अल-मसऊदी की साक्षी महत्त्व की है क्योंकि भारतवर्ष के विषय में उसे प्रत्यक्ष ज्ञान था। ९१२ ई० में वह मुल्तान में था और ९१६ ई० में खम्भात में।

अबू सहल इब्न तमीम (९५० ई०)

अफ्रीका के उत्तर में ट्यूनिस नगर के पास स्थित कैरवाँ ग्राम का निवासी इब्न तमीम 'सिफर यसीरह' नामक ग्रंथ के भाष्य में लिखता है: "हिन्दुओं ने, इकाइयों को सूचित करने के लिए, नौ चिह्नों का आविष्कार किया है। हिन्दू गणित पर लिखी हुई 'हिसाब अल-गोबार' नामक पुस्तक में मैंने उनके विषय में पर्याप्त कथन किया है।"[2]

अल-नदीम (९८७ ई०)

लगभग २०० भारतीय वर्णमालाओं की 'फिहरिस्त' नामक सूची में अल-नदीम ने हिन्दू अंकों को भी सम्मिलित किया है। इन अंकों को उसने 'हिन्दिसा' कहा है।[3]

अल-बेरूनी (१०३० ई०)

अल-बेरूनी भारतवर्ष में लगभग तेरह वर्ष रहा और अपना समय हिन्दू कला एवं विज्ञान के अध्ययन में व्यतीत किया। उसे यूनानी विज्ञान और साहित्य का अद्भुत ज्ञान था, अतएव उसे अपने समकालीन एवं पूर्वकालीन लेखकों की अपेक्षा अंकों की उत्पत्ति के विषय में साधिकार लिखने की अधिक योग्यता थी। (इस विषय पर) उसने दो पुस्तकें लिखी हैं जो 'किताब अल-अरकाम' (अर्थात् 'अंक विद्या की पुस्तक') और 'तस्किरा की अल-हिसाब व'अल-मद् बि अल-अरकाम अल-सिन्द व'अल हिन्द' (अर्थात् 'अंकगणित तथा सिन्ध और हिन्द की

[1] रेनॉद, मेम्वार सू लों, पेरिस, १८९४, पृ० ३००। इससे प्रतीत होता है कि, बहुत अधिक समय व्यतीत हो जाने के कारण, दशवीं शताब्दी में हिन्दू लोग अंकों के आविष्कार अथवा आविष्कारकों को भूल चुके थे।

[2] रेनॉद, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ३९९।

[3] किताब अल-फिहरिस्त, जी० ल्फूगेल द्वारा संपादित, २, पृ० १८-१९।

अंकगणना पद्धति का विवेचन') नामों से प्रसिद्ध हैं। 'तारीख अल हिन्द' (अर्थात् 'भारतवर्ष का इतिहास') नामक पुस्तक में वह लिखता है: 'जिस भाँति भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्णमाला के आकार भिन्न-भिन्न हैं, ठीक उसी भाँति अंकों के आकारों में भी विभिन्नता है। हम लोग जिन अंकों का प्रयोग करते हैं, वे हिन्दू अंकों के सर्वोत्तम आकारों से व्युत्पन्न किये गये है।"[1] दूसरे स्थान पर वह लिखता है : "हिन्दू लोग अंकगणित में अंकों का प्रयोग उसी भाँति करते है जैसे हम लोग करते हैं। हमने एक पुस्तक लिखी है जिसमें हमने दिखाया है कि हिन्दू लोग इस विषय में हम लोगों से सम्भवतः कितना आगे बढ़े हुए हैं।"[2] 'आसार-उल-बाकिया'[3] (अर्थात् 'अतीत के अवशेष', रचनाकाल १००० ई०) नामक पुस्तक में अल बेरूनी ने आधुनिक अंकों को "अल-अरकाम अल-हिन्द" अर्थात् "हिन्द के अंक" कहा है और प्रसंगवश यह भी उल्लेख किया है कि ये अंक षष्टयंश-सिद्धान्त तथा अक्षर सिद्धान्तवाले अंकों (हरूफ अल-जुमल) से भिन्न हैं।

अबिनरेगल (१०४८ ई०)

अली विन अबिल रेगल अबुल हसन, जो अबिनरेगल के नाम से प्रसिद्ध हैं, ने लिखा है कि जो गणना नौ अंकों द्वारा की जाती है उसका आविष्कार करनेवाले हिन्दू दार्शनिक है।[4]

सर्फुद्दीन (११७२ ई०)

मक्का निवासी महमूद बिन काजिद अल-अमूनी सर्फुद्दीन ने 'फी अल-हन्दसा व'अल-अरकाम अल-हिन्दी' ("क्षेत्रगणित तथा भारतीय अंक") नामक पुस्तक की रचना की थी।[5]

[1] भारत, अलबेरूनी-कृत, ई० सो० साचौ-कृत अँगरेजी अनुवाद, लंदन, द्वितीय संस्करण, १९१०, जिल्द १, पृ० ७४।

[2] पूर्वोक्त ग्रंथ, जिल्द १, पृ० १७७।

[3] वि क्रानोलाजी आव एंशेन्ट नेशंस, साचौ द्वारा संपादित, लंदन, १८७९, पृ० ६२ और १३२।

[4] जे० एफ० मोंट्यूक्ला, इस्तुवार दे माथेमाटीक, जिल्द १, पृ० ३७६।

[5] एच सूटर, दी माथामाटिकर उण्ड अस्ट्रानोमर डेर अराबेर उण्ड ईरे वेर्के, लाइपजिक, १९००, पृ० १२६।

अल-कलसादी (मृत्यु १४८६ ई०)

इब्न अलबन्ना कृत 'तलखीस' के भाष्य में अबुल हसन अली अल-कलसादी कहता है : "ये नौ चिह्न, जो गोबार (धूल) के चिह्न कहलाते है, वे चिह्न है जो हमारे स्पेन के प्रान्तो तथा मगरिब एवं अफ्रीका के देशों में बहुधा प्रयोग किये जाते हैं। इनकी उत्पत्ति परम्परा से भारतीय राष्ट्र के एक व्यक्ति को आरोपित की गयी है। लोगों का कथन है कि उस व्यक्ति ने कुछ बारीक धूल लेकर एक पटरे पर फैला दिया और लोगों को गुणा, भाग तथा अन्य गणित की क्रियाएँ करना सिखाया।"[१]

बेहाउद्दीन (लगभग १६०० ई०)

अंकों के सम्बन्ध में बेहाउद्दीन लिखता है : "हिन्दू लोगों ने ही वस्तुतः नौ प्रचलित अकों की सृष्टि की है।"[२]

उपर्युक्त उल्लेखों में 'हिंद' शब्द का प्रयोग भारतवर्ष के अर्थ मे और 'हिंदी' शब्द का प्रयोग भारतीय के अर्थ में हुआ है। अरबी और फारसी साहित्य में भारतवर्ष के अर्थ मे प्रायः 'हिन्द' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। प्रारम्भिक लेखों पें कभी-कभी सिन्ध और हिन्द में भेद किया गया है। उदाहरणतः, अल-मसऊदी और अल-बेरूनी ने सिन्ध शब्द का प्रयोग सिन्ध नदी के पश्चिमवाले देशों के अर्थ में किया है। यह भेद इब्न हौकल के मानचित्र में जो इलियट और डासन कृत 'भारतवर्ष के इतिहास' में उद्धृत किया है, भली-भाँति दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोगों ने इस भेद को उपेक्षा की है। उदाहरणतः, इस्तख्री (९१२ ई०) ने हिन्द शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण भारतवर्ष के अर्थ मे किया है।[३] और फिर-दौसी कृत शाहनामा[४] में सिन्ध शब्द का प्रयोग नदी तथा देश के अर्थ मे तथा हिन्द शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण भारतवर्ष के अर्थ में किया गया है। आगे चलकर यह भेद पूर्णतया लुप्त हो गया। इब्न सीदेह (मृत्यु १०६६ ई०), फीरोजाबादी (१३२८-१४१३ई०) आदि कोषकारों के अनुसार हिन्द 'एक सुप्रसिद्ध राष्ट्र का

[१] जए, १८६३, पृ० ५९ आदि।
[२] खोलासा अल हिसाब, ए० मारे द्वारा फ्रांसीसी में अनुवादित, न्यू० अनाल्स मैथेमेटिक जिल्द ५, १८६४, पृ० २६६।
[३] इलिअट और डासन कृत भारतवर्ष का इतिहास, भाग २, पृ० ४१२।
[४] ए० जी० वार्नर और ई० वार्नर कृत अँगरेजी अनुवाद, लंदन, १९०६।

नाम है तथा एल० जौहरी (१००८ ई०) के अनुसार यह 'एक देश का नाम' है। अरब साहित्य में भारतवर्ष के अर्थ में हिन्द शब्द के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

केरा डे वो[1] ने सुझाव दिया है कि संभवतः हिन्द शब्द का अर्थ भारतवर्ष नहीं है, बल्कि इसकी व्युत्पत्ति वस्तुतः 'एन्द' (अथवा 'हेन्द') शब्द से हुई है जिसका अर्थ है "माप", 'अंकगणित" या "क्षेत्रगणित।" और इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'हिन्द के चिह्न' का अर्थ 'अंकगणित के चिह्न' है न कि 'भारतवर्ष के चिह्न'। हिन्द शब्द से बने हुए विशेषण 'हिन्दी' के सम्बन्ध में, जिसको कुछ विद्वानों ने अंकों के सिलसिले में प्रयोग किया है, उसका अनुमान है कि इसका प्रयोग संभवतः भ्रमवश 'हिन्दसा' के अर्थ में हुआ है।

केरा डे वो की, एण्द या हेन्द शब्द से की गयी, हिन्द शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। अरबी कोषों से इसे समर्थन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त, हिन्द शब्द बहुत प्राचीन है। इसका प्रयोग अवेस्ता[2] में, पहले के यश्न तथा बाद के वेण्डिडाड दोनों में, मिलता है। डेरिअस हिस्तेस्पस के क्यूनिफार्म अन्तर्लेखों में भी इसका प्रयोग मिलता है। अरबों की ईरान-विजय के पूर्व के पहलवी लेखों में भी हिंद शब्द के दर्शन होते हैं। इन सबमें इसका प्रयोग भारतवर्ष के अर्थ में हुआ है।

हिन्दी शब्द हिन्द शब्द का विशेषण है और इसका अर्थ है 'भारतीय'। कुछ इने गिने स्थानों पर इसका प्रयोग भ्रमवश हिन्दसी के अर्थ में किये जाने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ऐसा प्रत्येक स्थान पर हुआ है।

हिन्दसा आदि शब्द

अधिकारी विद्वानों का कथन है कि हिंदसा, हिंदसा, हन्दसा, हिन्दसी, हन्दसी इत्यादि शब्द हिन्द शब्द के विशेषण हैं, जिसका अर्थ है 'भारतीय'। के[3] और

[1] केरा डे वो सियंसिया, जिल्द २१, १९१७, पृ० २७३।
[2] यश्न, १०. १४१; यश्न, १०. १०४ (मिहर यश्त)।
[3] के, जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, जिल्द ३, १९०७, पृ० ४८९; और जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, जिल्द ७, १९११, पृ० ८१० आदि।

केरा डे वो[1] ने इस व्याख्या का विरोध किया है। फीरोजाबादी के शब्दकोष के आधार पर उन लोगों का कथन है कि ये शब्द फारसी के 'अन्दाजह' शब्द से, व्युत्पन्न किये गये हैं, जिसका अर्थ है "माप।" इसमें संदेह नहीं कि अरबी भाषा में हिन्दसी शब्द का अर्थ 'रेखा-गणित सम्बन्धी' है। परन्तु जब इस शब्द का प्रयोग "दोहरी कल्पना के नियम" या "नौ की सहायता से होने वाली उत्पत्ति" के सिलसिले में अथवा 'अंक-संकेत' के सिलसिले में किया जाता है, तब यह मानना पड़ेगा कि इस शब्द का कोई दूसरा अर्थ भी था। चूँकि हिन्दसी नामक गणितीय नियम, अरब में उनका प्रयोग होने से पहले, हिन्दू अंकगणित में मिलते हैं, अतएव हिन्दसी का अर्थ 'भारतीय' भी है। अतएव हिन्दसो, हिन्दसा, अथवा हन्दसा शब्द के दो अर्थ हैं: (१) "क्षेत्रगणित सम्बन्धी" और (२) "भारतीय।" इस शब्द के अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाला विवाद जो कि वेपके[2] ने शान्त कर दिया था पुनः उठ खड़ा हुआ है, क्योंकि के तथा केरा डे वोस महोदयों ने दोनों अर्थों की सत्यता को स्वीकार करना अस्वीकार कर दिया है।[3] इस स्थल पर सूचित किया जा सकता है कि चूँकि हिन्दसी शब्द का एक अर्थ 'हिन्दी' का पर्यायवाचक है अतएव आश्चर्य नहीं कि भ्रमवश कभी-कभी लोगों ने, विशेषकर मूल ग्रंथ के अनभिज्ञ लेखकों ने, एक शब्द का प्रयोग दूसरे के स्थान में कर दिया हो

यूरोपीय उल्लेख—सेवाइल का आइसोडोरस

सेवाइल के आइसोडोरस द्वारा लिखित ओरिजिन्स नामक पुस्तक के प्रथम अध्याय (जो रोमन अंकों से सम्बन्ध रखता है) के परिशिष्ट में गोबार अंकों के आकारवाले नौ अंक, जिनमें शून्य सम्मिलित नहीं है दिये गये है। इसी ग्रन्थ की दूसरी स्पेनिस प्रतिलिपि (९९२ ई०) में भी उसी स्थान पर ये अंक मिलते

[1] पूर्वोक्त पत्रिका।

[2] वेपके, इंडियन ऐक्वेटरी, जिल्द १, १८६३, पृ० २७ आदि। निम्न भी देखिए—इन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम में 'हन्दसा' शब्द पर सूटर का लेख; रोजेन कृत अलजबरा ऑव मोहम्मद बेन मूसा १८३१, पृ० १९६ आदि।

[3] किसी भी साहित्य में ऐसे शब्द निकालना कठिन होगा जिनके एक से अधिक अर्थ हों। कई अवसरों पर इन अर्थों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब कभी ऐसे शब्द का प्रयोग होता है, तब उसका समुचित अर्थ संदर्भ से निश्चित करना पड़ता है।

हैं। लेखक ने निम्नलिखित शब्दों में इन अंकों की उत्पत्ति भारतीय बतलाया है: "ऐसा ही अंकगणित के चिह्नों के विषय में है। यहाँ पर देखने योग्य है कि भारतीयों की बुद्धि अत्यन्त प्रखर है अन्य राष्ट्र अंकगणित, क्षत्रगणित तथा संस्कारी कलाओं में उनसे हीन है। उनके नौ अंकचिह्नों से तो यह स्पष्ट ही है, जिनका प्रयोग करके वे किसी भी बड़ी से बड़ी संख्या को व्यक्त कर सकते है। इन अंकों के आकार ये हैं।"

रब्बी बेन एजरा

रब्बी अब्राहम इब्न मीर इब्न एजरा ने "सिफर-ह-मिस्पर" (अंकों की पुस्तक) नामक अपने ग्रंथ में हिन्दू-आकार के अंक दिया है। उसे अंकों की हिन्दू-उत्पत्ति का ज्ञान था, क्योंकि वह लिखता है "इसका यही कारण है कि भारतवर्ष के विद्वानों ने अपने संपूर्ण अकों को ९ के द्वारा विशेषित किया है एवं ९ शून्यों के लिए आकारों का निर्माण किया है।"[१]

पीसा का ल्योनार्डो

पीसा निवासी ल्योनार्डो अपने ग्रंथ 'लिबर एबैकी' (१२०२ ई०) में प्रायः ९ भारतीय अंकों का उल्लेख करता है। अन्य स्थान पर वह लिखता है "जहाँ भारतीयो के नौ अक-चिह्नों की सहायता से अदभुत ढग की शिक्षा देकर (गणित की) की कला का प्रचार किया।"[२] दूसरे स्थान पर, एक विभिन्न विषय के शीर्षक के तौर पर लिखता है "भारतीय नौ अकचिह्नो का ज्ञान" इत्यादि, "भारतीय नौ अंक-चिह्न है ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १।"[३]

एलेक्जेन्डर डे विला डाइ

एलेकजेन्डर डे विला डाई (ल० १२४० ई०) ने 'कारमेन डे अलगोरिज्यो' नामक कुछ कविताओं पर एक भाष्य लिखा है। इस भाष्य में वह कहता

[१]**स्मिथ और कार्पिस्की** (पूर्वोक्त, पृ० १३८) **द्वारा उद्धृत लेटिन मूल का अनुवाद।**

[२]सिफर-ह-मिस्पर, डास बूख डेर त्साल, ऐन हिब्रेइश आरिथमेटिशेस वेर्क डेस आर० अब्राहम इब्न एजरा मोरितस सिल्बरबेर्ग, **फ्रांकफुर्ट आम् माइन**, १८९९, पृ० २।

[३]लिबर एबैकी, रोम, १८५७; **स्मिथ और कार्पिस्की** (पूर्वोक्त, पृ० १०) **द्वारा उद्धृत।**

है: "यह पुस्तक जनसाधारण के (उच्चारण के) अनुसार अलगोरिम अथवा आगरिम कहलाती है। इसका विषय अंकविद्या है, जिसे अलगोरिम भी कहते हैं। भारतवर्ष में अलगोर नाम का एक राजा था, उसी ने इस अलगोरिम विद्या का आविष्कार किया था। इस विद्या में हम लोग हिन्दुओं के दस अंकचिन्हों का प्रयोग करते है।"[1]

मैक्सिमस प्लानुडेस (ल० १३३० ई०)

मैक्सीमस प्लानुडेस ने लिखा है कि "९ (अंक) चिह्न भारतीयों से प्राप्त हुए है।"[2]

[1] स्मिथ और कार्पिस्की, पूर्वोक्त, पृ० ११।
[2] देखिए वेशके कृत जर्मन अनुवाद, हाले, १८७८, पृ० ३।

सारिणी १– खरोष्ठी के अंक

शक, पार्थिअन और कुषान अन्तर्लेख			अशोक के अन्तर्लेख	
𐨒𐨒	४०	𐨁	𐨁	१
𐨒𐨒𐨁	५०	𐨁𐨁	𐨁𐨁	२
𐨒𐨒𐨁	६०	𐨁𐨁𐨁		३
𐨒𐨒𐨒𐨁	७०	X	𐨁𐨁𐨁𐨁	४
𐨒𐨒𐨒𐨒	८०	IX	𐨁𐨁𐨁𐨁𐨁	५
𐨒𐨁	९००	IIX		६
𐨒𐨁𐨁	२००	IIIX		७
𐨒𐨁𐨁𐨁	३००	XX		८
𐨁𐨁𐨒𐨁	९२२	𐨒		१०
𐨁𐨒𐨒𐨒𐨁𐨁	२७४	𐨒		२०

सारिणी २(अ)– सेमिटिक और ब्राह्मी के अंक

	हिएरोग्लिफिक	फिनिशियन	हिएरेटिक	डेमोटिक	अशोक के अन्तर्लेख	नानाघाट का अन्तर्लेख	कुषानों के अन्तर्लेख	क्षत्रपों और आंध्रों के अन्तर्लेख
१								
२								
३								
४					+			
५								
६								
७								
८								
९								
१०								

सारिणी २(ब)– सेमिटिक और ब्राह्मी के अंक

	हिएरोग्लिफिक	फिनिशियन	हिएरेटिक	डेमोटिक	अशोक के अन्तर्लेख	नानाघाट का अन्तर्लेख	कुषानों के अन्तर्लेख	क्षत्रपों और आंध्रों के अन्तर्लेख
१९	𓐁	𐤁	𓐁					
१९	𓐁𓐁𓐁𓐁	𐤁𐤁𐤁	𓐁					
२०	𓎆	𐤊	𓎆	𓎆		𓎆	𓎆𓎆𓎆	𓎆
३०	𓎆𓎆𓎆	𐤋	𓎆	𓎆			𓎆𓎆𓎆	
४०	𓎆𓎆𓎆𓎆	𐤌	𓎆	𓎆			𓎆𓎆𓎆	
५०	𓎆𓎆𓎆𓎆𓎆	𐤍	𓎆	𓎆	𓎆 𓎆		𓎆𓎆𓎆	
६०	𓎆𓎆𓎆 𓎆𓎆𓎆	𐤎	𓎆	𓎆			𓎆𓎆𓎆	
७०	𓎆𓎆𓎆 𓎆𓎆𓎆𓎆	𐤏	𓎆	𓎆			𓎆𓎆	𓎆
८०	𓎆𓎆𓎆𓎆 𓎆𓎆𓎆𓎆	𐤐	𓎆	𓎆		𓎆	𓎆𓎆𓎆	
९०	𓎆𓎆𓎆 𓎆𓎆𓎆 𓎆𓎆𓎆	𐤑	𓎆	𓎆			𓎆𓎆	
१००	𓎆	𐤒 𐤓 𐤔	𓎆	𓎆		𓎆		𓎆

सारिणी २(स)– सेमिटिक और ब्राह्मी के लेख

	हिएरोग्लिफिक्	फिनिशियन	हिएरेटिक	डेमोटिक	अशोक का अन्तर्लेख	नानाघाट के अन्तर्लेख	कुषानों के अन्तर्लेख	क्षत्रपों और आंध्रों के अन्तर्लेख
२००	𓂝𓂝	(𐤌) 𐤌𐤉	𓂝	𓂝	𑀮 𑀯 𑀱	𑁆𑀮		𑁆𑀮
३००	𓂝𓂝𓂝		𓂝	𓂝		𑁆𑀯		
४००			𓂝	𓂝		𑁆𑀱		
५००			𓂝	𓂝				𑁆𑀯
६००			𓂝	𓂝		𑁆𑀱		
१०००			𓂝	𓂝		𑁆𑀲		𑁆𑀲
२०००			𓂝	𓂝				𑁆𑀲
३०००			𓂝	𓂝				𑁆𑀲
४०००			𓂝	𓂝		𑁆𑀲		𑁆𑀲

सारिणी ३ – ब्राह्मी के अंक

	तीसरी शताब्दी ई० पू०	दूसरी शताब्दी ई० पू०	पहली और दूसरी शताब्दी	दूसरी शताब्दी	दूसरी से चौथी शताब्दी तक	चौथी शताब्दी
	अशोक के अन्तर्लेख	नानाघाट का अन्तर्लेख	कुषानों के अन्तर्लेख	क्षत्रपों और आंध्रों के अन्तर्लेख	क्षत्रपों के सिक्के	जग्गयपेट के लेख तथा शिवस्कंदवर्मन के दानपत्र
१						
२						
३						
४						
५						
६						
७						
८						
९						

सारिणी ४ – ब्राह्मी के अंक

	चौथी से छठी शताब्दी तक	पाँचवीं शताब्दी	पाँचवीं से छठी शताब्दी तक	छठवीं से आठवीं शताब्दी तक	आठवीं से नवीं शताब्दी तक
	गुप्तों, परिव्राजक, और उच्छकल्प के अन्तर्लेख	वाकाटकों के दानपट्ट	पल्लव और शालंकायनों के दानपट्ट	वलभी के पट्ट	नेपाल के अन्तर्लेख
१					
२					
३					
४					
५					
६					
७					
८					
९					

सारिणी ५ – ब्राह्मी के अंक

	७वीं से ८वीं शताब्दी	९वीं से १०वीं शताब्दी	५वीं से ८वीं शताब्दी	हस्तलिपियाँ		
	गंगावंशियों के दानपत्र	प्रतिहारों के अन्तर्लेख और दानपत्र	विविध अन्तर्लेख व दानपत्र	बावर द्वारा संकलित हस्तलिपियाँ	नैपाल से प्राप्त हस्तलिपियाँ	जैन हस्तलिपियाँ
१						
२						
३						
४						
५						
६						
७						
८						
९						

सारिणी ६ – ब्राह्मी के अंक

	३री शताब्दी ई० पू० अशोक के अन्तर्लेख	२ री शताब्दी नानाघाट का अन्तर्लेख	१ ली और २ री शताब्दी कुषानों के अन्तर्लेख	२ री शताब्दी क्षत्रपों और आंध्रों के अन्तर्लेख	२री से ४थी शताब्दी क्षत्रपों के सिक्के	४थी शताब्दी जग्गयपेट के लेख और पल्लवों के दानपटट
१०						
१०						
२०						
३०						
४०						
५०						
६०						
७०						
८०						
९०						

सारिणी ७ – ब्राह्मी के अंक

	४थी से ६ठी शताब्दी	५वीं शताब्दी	६ठी से ८वीं शताब्दी	६ठी शताब्दी	८वीं से९वीं शताब्दी	७वीं से ८वीं (१) शताब्दी
	गुप्त, परिव्राजक आदि के अन्तर्लेख	वाकाटको के दानपट्ट	वलभी के दानपट्ट	शालंकायन वंशियों के दानपट्ट	नेपाल के अन्तर्लेख	गंगावंशियों के दानपट्ट
१०	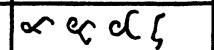		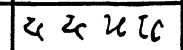			
१०			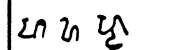			
२०	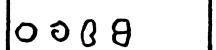					
३०	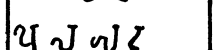		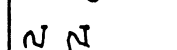			
४०			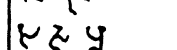			
५०			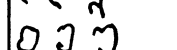			
६०			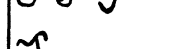			
७०			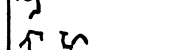			
८०						
९०			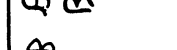			

सारिणी ८ – ब्राह्मी के अंक

	९वीं से १०वीं शताब्दी	५वीं से ८वीं शताब्दी	हस्तलिपियाँ		
	प्रतिहारों के दानपट्ट	विविध दानपत्र और अन्तर्लेख	बावर द्वारा संकलित हस्तलिपियाँ	नैपाल से प्राप्त बौद्ध हस्तलिपियाँ	जैन हस्तलिपियाँ
१०					
२०					
३०					
४०					
५०					
६०					
७०					
८०					
९०					

सारिणी ९ – ब्राह्मी के अंक

	३री शताब्दी ई० पू०	२री शताब्दी ई० पू०	१ली और २री शताब्दी	२री से ४थी शताब्दी	४थी से ७वीं शताब्दी	६ठी से ८वी शताब्दी
	अशोक के अन्तर्लेख	नानाघाट का अन्तर्लेख	नासिक के अन्तर्लेख	क्षत्रपो के सिक्के	गुप्तवंशियों तथा अन्य लोगों के अन्तर्लेख	वलभी राजाओं के दानपट्ट
१००						
१००						
२००						
२००						
३००						
४००						
५००						
६००						

सारिणी १० – ब्राह्मी के अंक

	८वीं से ९वीं शताब्दी	७वीं से ८वीं शताब्दी	९वीं से १०वीं शताब्दी	५वीं से आठवीं शताब्दी	हस्तलिपियाँ	
	नैपाल के अन्तर्लेख	गंगावंशियों के अन्तर्लेख	प्रतिहारों के दानपट्ट	विविध अन्तर्लेख	बौद्ध हस्तलिपियाँ	जैन हस्तलिपियाँ
१००					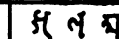	
२००					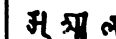	
३००					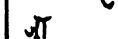	
४००						
५००						
६००						
७००						
८००						
९००						

	२री शताब्दी ई० पू०	१ली और २ री शताब्दी	५वीं शताब्दी	ब्राह्मी के मिश्र अंक					
	नानाघाट का अन्तर्लेख	नासिक के अन्तर्लेख	वाकाटकों के दानपट्ट						
१०००				१५		१२६		१००१	
२०००				२८		२८६		१००२	
३०००				३३		३०१		११०१	
४०००				४५		४२८		१७००	
६०००				५२		५३८		६००१	
८०००				६२		६७६		१०००१	
१००००				७६		७०३		११०००	
२००००				८१		८१३		२४४००	
७००००				६३		६५५			

सारिणी १२ – आधुनिक हिन्दू अंकों के प्रारंभिक आकार

	५९४ ई०	७५३ ई०	७९३ ई०	८१५ ई०	८३७ ई०	८६७ ई०	८७० ई०	८७६ ई०	९१७ ई०	९२५ ई०
	गुर्जरों के दानपट्ट	दन्तिदुर्ग के दानपट्ट	शंकरगण के दानपट्ट	नागभट के अन्तर्लेख	बाउक के अन्तर्लेख	दन्तिवर्मन के दानपट्ट	भोजदेव के अन्तर्लेख	भोजदेव के अन्तर्लेख	महीपाल के अन्तर्लेख	पुष्कर के अन्तर्लेख
१										
२										२
३	३									
४					४			४	४	
५		५	५		५		५	५	५	
६	६	६								
७			७	७		७	७	७	७	७
८										
९										
०							०	०	०	०

सारिणी १३ – आधुनिक हिन्दू अंकों के आदिम आकार

	९८७ ई०	९९७ ई०	११वीं शताब्दी	१०४२ ई०	१०५० ई०	१११४ ई०	११६० ई०	हस्तलिपियाँ		
	मूलराज के दानपट्ट	अपराजित के दानपट्ट	भोजकृत कूर्मशतक	कर्ण के दानपट्ट	त्रिलोचनपाल के दानपट्ट	अजल्लदेव के दानपट्ट	अजमेर के अन्तर्लेख	बक्षाली हस्तलिपि	बौद्ध हस्त-लिपियाँ	जैन हस्त-लिपियाँ
१	१ १	१	१		१ १ १	१ १	१	~ ∩	٦	١
२		२	२		२ २	२	२	२ ३	२	३
३	३		३	३	३ ३	३	३	३ ३	३	३
४	४	४	४		४ ४	४ ४	४	४	९	९
५	५		५		५ ५	५ ५	५	५	५	२
६		६	६		६ ६	६ ६	६	६	६	६
७			७	७	७	७ ७	७	७	७ १	७
८			८		८ ८ ८	८ ८	८	८	८	८
९		९	९	९ ९	९ ९	९	९	९	९	९
०	०	०	०		०		०	०	०	०

सारिणी १४ – नागरी अंकों की उत्पत्ति

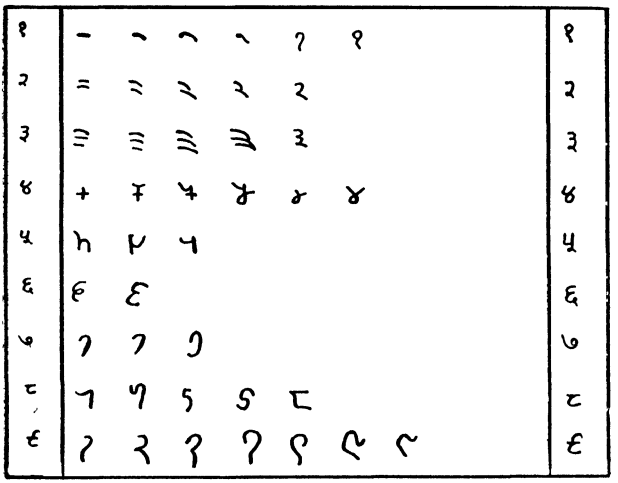

सारिणी १५ – आधुनिक भारतीय लिपियों के अंकों के आकार

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
नागरी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
शारदा	१	३	३	४	५	६	७	८	९	०
टाकरी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
गुरुमुखी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
कैथी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
बँगला	১	২	৩	৪	৫	৬	৭	৮	৯	০
मैथिली	১	২	৩	৪	৫	৬	৭	৮	৯	০
उड़िया	୧	୨	୩	୪	୫	୬	୭	୮	୯	୦
गुजराती	૧	૨	૩	૪	૫	૬	૭	૮	૯	૦
मराठी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
तेलुगु	౧	౨	౩	౪	౫	౬	౭	౮	౯	౦
कन्नड	೧	೨	೩	೪	೫	೬	೭	೮	೯	೦
मलयालम	൧	൨	൩	൪	൫	൬	൭	൮	൯	൦
बर्मी	၁	၂	၃	၄	၅	၆	၇	၈	၉	၀
स्यामी	๑	๒	๓	๔	๕	๖	๗	๘	๙	๐
तिब्बती	༡	༢	༣	༤	༥	༦	༧	༨	༩	༠

अध्याय २

अंकगणित

१. सामान्य निरीक्षण

परिभाषा और विस्तार

पाटीगणित पर लिखे हुए हिंदू ग्रंथों का अधिकाश अंकगणित से सम्बन्ध रखता है। 'पाटीगणित' शब्द दो शब्दो मे मिलकर बना है: (१) पाटी, और (२) गणित। अतएव इसका अर्थ है 'वह गणित जिसको करने में पाटी की आवश्यकता पड़ती है'।[1] लोगों की धारणा है कि यह शब्द भारतवर्ष के संस्कृतेतर साहित्य से निकला है, जो कि उत्तरी भारतवर्ष की एक प्रान्तीय भाषा थी। 'लिखने की पाटी' के प्राचीनतम संस्कृत पर्याय 'फलक' और 'पट्ट' हैं, न कि 'पाटी'।[2] 'पाटी' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में प्रायः सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। गणित-कर्म को कभी-कभी 'धूलीकर्म' भी कहते थे, क्योंकि पाटी पर धूल बिछा कर अक लिखे जाते थे। बाद के कुछ लेखकों ने 'पाटीगणित' के अर्थ में 'व्यक्त गणित' का प्रयोग किया है, जिसमें कि वह 'बीजगणित' से, जिसे वे 'अव्यक्त-गणित', कहते थे, पृथक् समझा जाय। जब संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ, 'पाटीगणित' और 'धूलीकर्म' शब्दों का भी अरबी में अनुवाद कर लिया गया। अरबी के संगत शब्द क्रमशः 'इल्म-हिसाब-अलतख्त' और 'हिसाब-अल गुबार' है।

[1] कागज की कमी के कारण गणित करने में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक प्रायः पाटी का ही प्रयोग होता था।

[2] बी० दत्त, अमेरिकन मैथेमेटिकल मंथली, जिल्द ३५, पृ० ५२६।

बेली, फ्लीट, और बहुत से अन्य लोगों को संदेह है कि हिन्दू गणित के पाटी शब्द की उत्पत्ति इस बात में निहित है कि पाटी का प्रयोग एबैकस के रूप में होता था। परन्तु इस अनुमान का कोई आधार नहीं है, क्योंकि भारतवर्ष में एबैकस के किसी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता।

ब्रह्मगुप्त के अनुसार पाटीगणित में बीस परिकर्म और आठ व्यवहार है। उनका कथन है :

"गणक वही है जो संकलित से आरम्भ होनेवाले बीस परिकर्मों को तथा छाया में अन्त होनेवाले आठ व्यवहारों को पृथक्-पृथक् जानता है।"[1]

पृथूदक स्वामी के अनुसार बीस परिकर्मों के नाम ये हैं: (१) संकलित, (२) व्यवकलित, अथवा व्युत्कलित, (३) गुणन, (४) भागहार, (५) वर्ग, (६) वर्गमूल, (७) घन, (८) घनमूल, (९-१३) पाँच जातियाँ (अर्थात् पाँच प्रकार की भिन्नों को सरल करने के नियम), (१४) त्रैराशिक, (१५) व्यस्त-त्रैराशिक, (१६) पंचराशिक, (१७) सप्तराशिक, (१८) नवराशिक, (१९) एकादशराशिक, और (२०) भाण्ड-प्रति-भाण्ड। आठ व्यवहारों के नाम ये हैं: (१) मिश्रक-व्यवहार, (२) श्रेढी-व्यवहार, (३) क्षेत्र-व्यवहार, (४) खात-व्यवहार, (५) चिति-व्यवहार, (६) क्राकचिक-व्यवहार, (७) राशि-व्यवहार, और (८) छाया-व्यवहार।

उपर्युक्त परिकर्मों में से पहले आठ परिकर्मों को महावीर और परवर्ती लेखकों ने मौलिक माना है। द्विगुणीकरण और अर्धीकरण के परिकर्म, जिन्हें मिस्र, यूनान, और अरबवालों ने मौलिक माना है, हिन्दू गणित के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं हैं। ये परिकर्म उन लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण थे जो दशमलव पद्धति से अनभिज्ञ थे। भारतीय ग्रंथो में, जो सब के सब दशमलव पद्धति का प्रयोग करते है, उनका अभाव है।

उपलब्ध ग्रंथ

उपलब्ध ग्रंथों में से निम्नलिखित केवल पाटीगणित से सम्बन्ध रखते है: बक्षाली हस्तलिपि (ल० ३०० ई०), श्रीधरकृत पाटीगणित और त्रिशतिका (ल० ७५० ई०), गणित-सार-संग्रह (ल० ८५० ई०) गणित-तिलक (१०३९ ई०), लीलावती (११५० ई०), गणित-कौमुदी (१३५६ ई०) और मुनीश्वर

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक १।

कृत पाटीसार (१६५८ ई०)। इन ग्रंथों मे उपर्युक्त बीस परिकर्मों और आठ-व्यवहारों[1] का वर्णन है। सूत्रों के साथ साथ उनके प्रयोग को समझाने के लिये उदाहरण भी दिए गये है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रथों मे भी गणित का एक प्रकरण रहता है। पहले पहल आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने आर्यभटीय नामक अपने सिद्धान्त में गणित सम्बन्धी एक अध्याय सम्मिलित किया था। ब्रह्मगुप्त ने इस बात में आर्यभट का अनुकरण किया, और तत्पश्चात् सिद्धान्त ग्रंथों में गणित पर एक अध्याय रखने की परम्परा सी हो गयी।[2] पहले के सिद्धान्तों मे यह विशेषता नहीं है। उदाहरणतः, सूर्य सिद्धान्त में गणित से सम्बन्ध रखनेवाला कोई अध्याय नही है। यही बात वासिष्ठ, पैतामह, और रोमक सिद्धान्तों के लिए भी सत्य है। भास्कर प्रथम और लल्ल ने भी जो आर्यभट के प्रधान अनुयायी हैं, अपने ज्योतिष-ग्रथों मे गणित को स्थान नही दिया है, कदाचित् इसलिए कि उनके ग्रथ तंत्र है, सिद्धान्त नही।

लेखन और अध्यापन

भारतवर्ष मे ग्रथों, मुख्यकर वैज्ञानिक ग्रथों, के निर्माण मे लाघव को विशेष महत्व दिया जाता था। रचना जितनी ही अधिक गठी हुई और संक्षिप्त होती थी, विद्वानों की दृष्टि मे वह उतनी ही अधिक मूल्यवान समझी जाती थी। यही कारण है कि भारतीय ग्रंथों मे केवल संक्षिप्त सूत्र (नियम) और निष्कर्ष दिये रहते है, जो कभी-कभी इतने अधिक सक्षिप्त होते हैं कि समझ मे नही आते। यह लाघव प्राचीन ग्रथों में अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है; उदाहरणतः, आर्यभटीय की रचना शैली बाद के ग्रथों की अपेक्षा अधिक गठी हुई है।

प्राचीन काल मे रचना लाघव की इस स्पृहा का मुख्य कारण लेखन-सामग्री का अभाव, तत्सामयिक शैली, और प्रचलित अध्यापन प्रणाली थी। पाटी-गणित सीखनेवाले तरुण विद्यार्थी को सबसे पहले गणित के सब सूत्र कण्ठ कराये जाते थे, तत्पश्चात् उन सूत्रों का प्रयोग करके गणित के प्रश्न हल कराये जाते थे (प्रश्न भी कण्ठ करने पड़ते थे)। गणना पाटी पर धूल बिछा कर की

[1] श्रीधर के पाटीगणित मे शून्य-व्यवहार नाम का नवाँ व्यवहार भी मिलता है।

[2] भास्कर द्वितीय ने लिखा है कि लल्ल ने पाटीगणित पर एक अलग ग्रंथ लिखा है।

जाती थी। अंक धूल पर या तो उँगली के अग्रभाग से अथवा लकड़ी की नुकीली कील से लिखे जाते थे। ज्यों-ज्यों गणना बढ़ती थी अनावश्यक अंक मिटा दिये जाते थे। कभी-कभी पाटी पर खड़िया के टुकड़े से भी लिखते थे। गणना करने में विद्यार्थी पद-पद पर प्रयुक्त सूत्र का उच्चारण करता था, शिक्षक इसकी देख-भाल करता था और अशुद्धि होने पर विद्यार्थी की सहायता करता था। जब विद्यार्थी अपनी पुस्तक में दिये हुए प्रश्नों को हल करने में पर्याप्त निपुण हो जाता था, तब शिक्षक उसे अन्य प्रश्न करने को देता था। प्रत्येक पेशेवर शिक्षक के पास ऐसे चुने हुए प्रश्नों का भांडार होता था जो या तो उसके स्वयं बनाये हुए होते थे अथवा अन्य स्रोतों से संगृहीत होते थे। इस अवस्था में पहुँचने पर विद्यार्थी सरल सूत्रों की उपपत्ति समझने लगता था। जब विद्यार्थी ऐसी अवस्था मे पहुँच जाता था, तब शिक्षक उसे अधिक कठिन सूत्रों की उपपत्ति बताता था।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होगा कि शिक्षण की यह रीति इस बात में दोषपूर्ण थी कि पहली दो अवस्थाओं में अध्ययन का काम बिल्कुल यंत्रवत् होता था। जो विद्यार्थी अध्ययन की तीनों अवस्थाओं को पूरा नहीं करता था वह कण्ठस्थ किये हुए सूत्रों को प्रयोग करने के अतिरिक्त प्रायः कुछ नहीं जानता था; और प्रयुक्त सूत्रों की उपपत्ति से अनभिज्ञ होने के कारण, उनको प्रयोग करते समय अशुद्धियाँ करने को बाध्य होता था। हम यहाँ बता दें कि बहुत कम शिक्षक ऐसे होते थे जो शिक्षण की सब अवस्थाओं में विद्यार्थी का पथ-प्रदर्शन कर सकते थे; अतएव उत्साही विद्यार्थी को, जिसे आगे बढ़ने की इच्छा होती थी, किसी विद्या के केन्द्र को अथवा किसी सुप्रसिद्ध विद्वान् के पास अध्ययन के लिए जाना पड़ता था।

गणित सबसे कठिन विषय है और सदा से ही ऐसा रहा है, और चूंकि उच्च गणित का ज्ञान आर्थिक लाभ का नहीं हो सकता था अतएव बहुत कम लोग मन लगा कर इसका अध्ययन करते थे। तथापि भारतवर्ष में हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों में कुछ गणित और ज्योतिष की आवश्यकता पड़ती थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से कुछ लोग सदैव ऐसे ही रहे हैं जिनका धंधा भविष्य-कथन था। ये लोग गणक या ज्योतिषी कहलाते थे और अपने भक्तों को अपनी विद्या से प्रभावित करने के लिए कुछ गणित और ज्योतिष का ज्ञान रखते थे। इससे विदित होगा कि किसी हद तक गणित का अध्ययन भारतवर्ष में प्रायः सभी स्थानों में होता था। परन्तु जैसा हमेशा होता है, कुछ विद्यार्थियों को इस विषय में विशेष अनुराग

हुआ ; उन्होंने इस विषय का पूर्ण अध्ययन किया और ग्रंथों पर भाष्य लिखे अथवा स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण किया।

गणित की अवनति

यह सब तभी हुआ जब देश में सुख और शांति थी। जब विदेशी आक्रमणों, आभ्यन्तरिक युद्धों, तथा अयोग्य शासन-व्यवस्था से देश मे शांति का वातावरण भंग हुआ, गणित और वस्तुतः सभी विज्ञानों का अध्ययन शिथिल पड गया। अलबेरूनी, जिसने उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष का भ्रमण उस काल में किया था जब लूटमार के उद्देश्य से किये गये अफगानों के अनेक आक्रमणों के कारण देश मे अशान्ति व्याप्त थी, शिकायत करता है कि उसे एक भी ऐसा पडित नही मिला जो उसे भारतीय गणित के सिद्धान्तों से अवगत कराता। यद्यपि अलबेरूनी की परिस्थित विचित्र थी, क्योंकि कोई भी आदरणीय पडित विदेशी व्यक्ति की, विशेषकर उसे जो आक्रमणकारियों और देवमन्दिरों के लूटनेवालों के वर्ग का रहा हो, सहायता करने को तैयार न होता, तो भी हमे पूर्ण विश्वास है कि पजाब में उस समय अच्छे विद्वानों की सख्या बहुत कम थी।

तथापि यह निश्चित है कि ग्यारहवी शताब्दी के बाद भारतवर्ष में बहुत ही कम मौलिक कार्य हुआ। प्राचीन ग्रथों पर भाष्य अवश्य लिखे गये और कुछ नवीन ग्रथों की रचना भी हुई, परन्तु इन ग्रंथों मे लेखन अथवा विषय सम्बन्धी कोई ऐसा गुण नहीं था कि वे भास्कर द्वितीय के ग्रंथों को, जो पिछली नव शताब्दियों से अपने विषयों के प्रामाणिक ग्रथ माने जा रहे है, हटाने मे समर्थ होते।

मौलिक परिकर्म

भारतीय गणित मे मौलिक परिकर्म आठ माने जाते है : (१) संकलन (जोड़), (२) व्यवकलन (घटाना), (३) गुणन (गुणा करना) (४) भाग (भाग करना) (५) वर्ग (वर्ग करना) (६) वर्गमूल (वर्गमूल निकालना) (७) घन (घन करना), (८) घनमूल (घनमूल निकालना)। परन्तु इन साधारण परिकर्मों में से अधिकांश का वर्णन सिद्धान्त ग्रंथों में नहीं मिलता। आर्यभट प्रथम ने केवल वर्गमूल और घनमूल निकालने के नियम दिये है, और ब्रह्मगुप्त ने केवल घनमूल का नियम दिया है। पाटीगणित के ग्रंथों मे भी संकलन और व्यवकलन सम्बन्धी नियमों का या तो पूर्ण अभाव है अथवा केवल उल्लेख-मात्र मिलता है। गुणन के प्रकारों के नाम तो दे दिये गये है परन्तु उन प्रकारों के विवरण या तो संक्षेप मे दे दिये गये है अथवा बिलकुल नहीं दिये गये है। भाग

करने की आधुनिक विधि और वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल निकालने के नियमों का वर्णन सभी ग्रंथों में मिलता है।

यद्यपि उपर्युक्त मौलिक परिकर्मों के केवल अत्यन्त संक्षिप्त विवरण उपलब्ध हैं, तो भी इन परिकर्मों को करने की प्राचीन विधियों का पुनर्निर्माण करना कठिन नहीं है, क्योंकि ये विधियाँ सुप्रसिद्ध हैं और पिछले १५०० वर्षों से या और भी अधिक काल से विद्यार्थियों को अविकल रूप से सिखायी जा रही हैं। आज भी जो विद्यार्थी आधुनिक स्कूलों में न पढ़ कर संस्कृत पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करते हैं इन परिकर्मों को प्राचीन पद्धति के अनुसार पाटी पर करते हैं। इन विधियों के विस्तृत विवरण पृथूदक स्वामी, और भास्कर द्वितीय आदि द्वारा लिखे हुए प्राचीन ग्रंथों के भाष्यों में भी मिलते हैं।

जैसा ऊपर कह आये हैं, गणना का कार्य पृथ्वी पर अथवा पाटी पर धूल बिछा कर किया जाता था।[1] कभी-कभी खड़िया के टुकड़े से पाटी पर लिख कर भी गणना की जाती थी। परन्तु चूंकि लिखे हुए अंक आकार मे बड़े होते थे, अतएव पाटी पर अंकों की बहुत सी पंक्तियाँ नहीं आ पाती थीं। अतएव अनावश्यक अंकों को मिटा देने की प्रथा थी। परिकर्मों का विस्तृत विवरण देते समय, आगे उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया जायगा।

प्राचीन काल से ही हिन्दू गणितज्ञ इस बात को मानते रहे हैं कि गणित के सब परिकर्म मूलतः दो परिकर्मों—संकलित और व्यवकलित—पर आश्रित हैं। इस सम्बन्ध भास्कर प्रथम का निम्नलिखित कथन है :

"यह गणित यद्यपि चार (प्रकारों) मे व्याप्त है, (मूलतः) दो प्रकार का है। वे दो प्रकार हैं—वृद्धि और ह्रास। जोड़ वृद्धि है, और घटाना ह्रास है। इन्हीं दो भेदों से सम्पूर्ण गणित व्याप्त है। कहा भी गया है—

'गुणन और गत' जोड़ के भेद हैं; भाग और गतमूल[2] अन्तर के भेद कहे गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण गणित-शास्त्र को वृद्धि और ह्रास से व्याप्त देख कर (वस्तुतः) उसके दो ही भेद मानना चाहिए।"[3]

[1] उदाहरणतः, ६ का ७वाँ गत ६° है।
[2] उदाहरणतः ६° का ७वाँ गतमूल ७ है।
[3] देखिए भास्कर प्रथम का आर्यभटीय-भाष्य, गणित-पाद की भूमिका।

२. संकलित (जोड़ना)

परिभाषा

आर्यभट द्वितीय (९५० ई०) ने संकलित की निम्न परिभाषा दी है—

"बहुत सी संख्याओं के एकीकरण को संकलित कहते हैं।"[1]

संकलित के अर्थ मे निम्नलिखित शब्दों का सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है :

संकलन, मिश्रण, सम्मेलन, प्रक्षेपण, संयोजन, युक्ति, योग, और अभ्यास[2]।

कुछ लेखकों ने संकलित शब्द को 'श्रेढीफल' के अर्थ में प्रयोग किया है।[3]

करण (अर्थात् क्रिया)

गणित और ज्योतिष के सब ग्रथों मे संकलित करने की रीति के ज्ञान को सर्वविदित मान लिया गया है। तो भी बाद की कुछ प्रारम्भिक पुस्तकों में इसका कुछ संक्षिप्त विवरण मिलता है। उदाहरणतः, भास्कर द्वितीय ने अपनी लीलावती में निम्न कथन किया है ;

"अंकों को अपने अपने स्थानों के अनुसार क्रम मे अथवा उत्क्रम से जोड़ना चाहिए।"[4]

क्रम विधि

संकलित की उपर्युक्त क्रम विधि में पहले संख्याओं को आधुनिक रीति से क्रमशः ऊपर नीचे लिखते थे, और तब सबसे नीचे (ऊपर) वाली संख्या के नीचे (ऊपर) एक क्षैतिज रेखा खींचते थे, जिसके नीचे (ऊपर) योगफल लिखा जाता था।

[1]महासिद्धान्त, अध्याय १५, श्लोक २।

[2]इस शब्द का संकलित के अर्थ में प्रयोग केवल शुल्ब में मिलता है। बाद के ग्रंथों में इसका प्रयोग 'गुणन' के अर्थ में हुआ है।

[3]उदाहरणतः, देखिए त्रिशतिका पृ० २; गणित-सार-संग्रह, पृ० १७।

[4]लीलावती पृ० २। यहाँ पर क्रम का अर्थ है 'इकाई से आरम्भ करके'। टीकाकार गंगाधर का कथन है: अंकानां वामतो गतिरिति वितर्केण, एकस्थानादियोजनं क्रमः उत्क्रमस्तु अन्त्यस्थानादियोजनम्, अर्थात् "'अंकों की गति बायीं ओर को होती है' नियम के अनुसार, क्रमसंकलन वह है जो इकाई से आरम्भ करके किया जाता है और उत्क्रम-संकलन वह है जो अन्तिम स्थान से आरम्भ करके किया जाता है।"

पहले इकाई के अंकों को जोड़ लिया जाता था ; इस प्रकार योगफल की इकाई-वाला अंक प्राप्त होता था। इसके बाद दहाईवाले अंक जोड़े जाते थे, और आये हुए जोड़ में क्षैतिज रेखा के नीचे लिखी हुई दहाई को (यदि होती थी तो) जोड़ते थे ; इस प्रकार योगफल का दहाईवाला अंक प्राप्त होता था। इसके बाद इसी प्रकार क्रम से सैकड़े, हजार आदि के अंक जोडे जाते थे। एक प्रकारान्तर यह भी था कि जोड़ी जानेवाली सबसे बडी संख्या सबसे ऊपर लिखी जाती थी और इस संख्या के अंको को मिटा-मिटा कर योगफल के अंक लिखे जाते थे।[1]

उत्क्रम विधि

उत्क्रम विधि में पहले अन्तिम (बिलकुल बायी ओर) वाले स्थान के अंक जोड़ कर क्षैतिज रेखा के नीचे लिखे जाते है। उसके बाद क्रमशः दाहिनी ओर के स्थानों के अंक जोड़े जाते है। आंशिक योगफलों के अंक, आवश्यकता पडने पर, अगले स्थान के अंकों को जोड़ने के पश्चात् शुद्ध कर लिये जाते है। उदाहरणार्थ, यदि अंतिम स्थान के अंकों का जोड़ १९ होता है तो १२ को क्षैतिज रेखा के नीचे इस प्रकार स्थापित करते हैं कि अंक २ अंतिम स्थान के ठीक नीचे पड़ता है। इसके बाद यदि अगले स्थान के अंकों का जोड़ १३ होता है तो अंक ३ को जुड़े हुए अंकों के स्थान के ठीक नीचे लिखते है और १ को बायीं ओर के (पहले ही से लिखे हुए) अंक २ में जोड़ देते है (अर्थात् २ को मिटा कर उसके स्थान मे ३ लिख देते है)।[2]

[1] सुधाकर द्विवेदी, गणित का इतिहास, बनारस, १९१०, पृ० ६० ।

[2] मनोरंजन नामक टीका में संकलित की प्रक्रिया निम्न प्रकार से समझायी गयी है :

उदाहरण। २, ५, ३२, १९३, १८, १०, और १०० का योग ज्ञात करो।

इकाइयों का जोड़ २, ५, २, ३, ८, ०, ०	२०
दहाइयों का जोड़ ३, ९, १, १, ०	१४
सैकड़ों का जोड़ १, ० ० १	२
कुल जोड़	३६०

टीकाकार ने क्रम और उत्क्रम विधियों को एक साथ समझाने के लिए क्षैतिज क्रम का प्रयोग किया है। परन्तु इसका कभी प्रयोग नहीं हुआ।

अरबवाले ऊर्ध्वाधर रेखा खींचकर स्थानों का पृथक्करण कर देते थे, परन्तु हिन्दू लोग ऐसा नहीं करते थे।[1]

३. व्यवकलित (घटाना)

परिभाषा

आर्यभट द्वितीय ने व्यवकालेत की निम्न परिभाषा दी है :

"सर्वधन में से कुछ घटाने को 'व्यवकलित कहते है ; (घटाने पर) जो बचता है उसे 'शेष' कहते है।"[2]

व्यवकलित के अर्थ में निम्नलिखित शब्दों का भी प्रयोग किया गया है: व्युत्कलित, व्युत्कलन, शोधन, पातन, वियोग, इत्यादि।

जिस सख्या मे कोई संख्या घटाई जाती है उसे सर्वधन या वियोज्य कहा गया है ; और जो संख्या घटाई जाती है उसे वियोजक कहा गया है। घटाने से बची हुई संख्या को शेप अथवा अन्तर कहा गया है।

करण

भास्कर द्वितीय ने व्यवकलित के लिए निम्नलिखित नियम दिया है :

'अंकों को अपने अपने स्थानों के अनुसार क्रम से अथवा उत्क्रम से घटाना चाहिए।"[3]

क्रम (या अनुलोम) विधि

टीकाकार मुंजदास (१५४१ ई०) ने[4] १००० मे से ३६० को घटाने के सम्बन्ध मे व्यवकलित की प्रक्रिया का निम्नलिखित विवरण दिया है

"... यथोक्त विधि से घटाने पर, चूंकि अंक ६ को दहाई वाले शून्य से नही घटा सकते, अतएव १० मे से ६ को घटाते है और शेष (४) को (६ वाले स्थान के) ऊपर लिखते है ; उक्त १० को आगे के स्थान से घटाते है। चूंकि इकाई आदि स्थान दशगुणोत्तर है, अतएव वियोज्य का वह अक, जो वियोजक के संगत अक से नहीं घटाया जा सकता, १० (युक्त वियोज्य) से घटाया जाता

[1] देखिए, टेलर, लीलावती, बम्बई, १८१६, भूमिका, पृ० १४।
[2] महासिद्धान्त, अध्याय १५, श्लोक २।
[3] लीलावती, पृ० २।
[4] अपनी लीलावती की टीका में।

है, और शेष ग्रहण किया जाता है, और वह १० आगेवाले स्थान से घटाया जाता है। इस प्रकार वह १० अंतिम संख्या तक तब तक लिया जाता है जब तक उसका पूर्ण रूप से ह्रास नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में ९ तक के अंक एक स्थान लेते हैं, स्थान का अन्तर पड़ना १० से आरम्भ होता है, अतएव ज्ञात किया जाता है कि 'संख्या में कितनी दहाइयाँ हैं ; और इसलिए वह अंक जो अपने स्थान से नहीं घटाया जा सकता वह आगे की दहाई से घटाया जाता है, और शेष का ग्रहण किया जाता है।"

उपर्युक्त विधि में घटाने का क्रम इकाई से आरम्भ होता है, अतएव इसे क्रम विधि कहते हैं।

उत्क्रम विधि

उत्क्रम विधि भी क्रम विधि के सदृश है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें घटाने का क्रम सर्वधन के अन्तिम स्थान से आरम्भ किया जाता है, और पहले के आंशिक शेष, आवश्यकता पड़ने पर, बाद में शुद्ध कर लिये जाते हैं। इस विधि का प्रयोग पाटी पर ही किया जा सकता है, क्योंकि अंकों का मिटाना और शुद्ध करना पाटी पर ही सम्भव है। यह विधि क्रम-विधि से सरल समझी जाती थी, और यही विधि सामान्य रूप से भारतवर्ष में प्रचलित थी।[1]

४. गुणन

परिभाषा

गुणन शब्द अत्यंत प्राचीन है, क्योंकि इसका प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है। गुणन के अर्थ में हनन, वध, और क्षय इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का शाब्दिक अर्थ 'वध करना' अथवा 'नष्ट करना' है। प्रतीत होता है कि इन शब्दों का प्रचार दशमलव स्थान-मानवाली संख्याओं को गुणा करने के नवीन नियमों के बन जाने के बाद हुआ, क्योंकि नवीन नियम के अनुसार गुण्य राशि के अंक एक-एक करके मिटा दिये जाते थे और उनके स्थान में गुणनफल के अंक लिख दिये जाते थे।[2] हनन शब्द के पर्यायवाचक शब्दों का प्रयोग आर्यभट

[1] गंगाधर के अनुसार घटाने में उत्क्रम विधि सरल पड़ती है और जोड़ में क्रम विधि।

[2] आगे पृ० १२९ में कपाट-सन्धि गुणन की विधि का वर्णन दिया गया है।

प्रथम[1], ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, और परवर्ती लेखकों के ग्रथों में मिलता है। बक्षाली हस्तलिपि में भी इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।[2]

'अभ्यास' शब्द का प्रयोग जोड़ और गुणन दोनों अर्थों मे शुल्ब-ग्रंथों (८००-४०० ई० पू०) में मिलता है। इससे विदित होता है कि प्राचीन काल में गुणन करने की प्रक्रिया अनेक बार जोड़ने पर आधारित थी। गुणन के अर्थ में बक्षाली हस्तलिपि[3] में प्रयुक्त शब्द 'परस्परकृतं' ('एकत्र करना') स्पष्टत: प्राचीन काल का अवशेष है। इस प्राचीन शब्दावली से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में गुणन की परिभाषा थी—'जोड़ की वह प्रक्रिया जिसमें गुण्य को गुणक-संख्या तुल्य बार लिख कर जोडा जाता हो।' यह परिभाषा भास्कर प्रथम के आर्यभटीय-भाष्य में मिलती है। लीलावती के टीकाकारों मे भी गुणन की यही परिभाषा दी है।[4] 'भास्कर प्रथम' ने निम्नलिखित शब्दों को गुणन शब्द के पर्यायवाचक माना है: संवर्ग, घात, हति:; और उद्वर्तना।

जिस संख्या को गुणा किया जाता है उसे 'गुण्य' कहते है और जिस संख्या मे गुणा किया जाता है उसे 'गुणक' अथवा 'गुणकार' कहते है। गुणा करने मे जो संख्या प्राप्त होती है उसे 'गुणनफल' अथवा 'प्रत्युत्पन्न' कहते हैं। ये शब्द गणित के सभी उपलब्ध ग्रंथों मे मिलते है।

गुणन की विधियाँ

आर्यभट प्रथम ने गुणन की सामान्य विधियों का वर्णन नहीं किया है, कदाचित इसलिए कि वे इतनी सरल और सुप्रसिद्ध थी कि उनका सिद्धान्त-ग्रंथ[5] मे निवेश उचित नहीं था। तथापि ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्म=स्फुट-सिद्धान्त के गणिताध्याय मे कुछ विधियों के नाम दिये है और उनका संक्षिप्त वर्णन भी किया है:

"गुणकार में जितने (स्थान-खंड)[6] हों उतनी बार गुण्य को (ऊपर नीचे)

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक १६, २६, इत्यादि।
[2] बक्षाली हस्तलिपि, पत्र ६५ (ब)।
[3] बक्षाली हस्तलिपि, पत्र ३ (ब)।
[4] कोलब्रुक, हिन्दू अलजेबरा, पृ० १३३।
[5] आर्यभटीय, गणितपाद, १ (भाष्य)।
[6] खण्ड का अनुवाद कोलब्रुक ने 'पूर्णसंख्यात्मक भाग' (इंटीग्रेन्ट पोर्शन्स) किया है।

गोमूत्रिकावत् (एक-एक स्थान हटा कर) लिखो, उसके बाद उनको (गुणकार के संगत स्थान-खंडों से) गुणा करके एक में जोड़ दो। इस प्रकार गुणनफल की प्राप्ति होगी।

अथवा, गुणकार के खंडों[1] की जो संख्या हो उतनी बार गुण्य को (अलग-अलग ऊपर नीचे) लिखो (और जोड़ दो। इन जोड़ों को परिस्थिति के अनुसार, आपस में जोड़ दो अथवा गुणा करो। इस प्रकार भी गुणनफल की प्राप्ति होगी)।[2]

"(अथवा) गुण्य को गुणकार और किसी इष्ट संख्या के योग अथवा अन्तर से गुणा करो, और गुणनफल में इष्ट और गुण्य के गुणनफल को घटा अथवा जोड़ दो।"[3]

इस प्रकार ब्रह्मगुप्त ने गुणन की चार विधियों का वर्णन किया है: (१) गोमूत्रिका, (२) खण्ड, (३) भेद, और (४) इष्ट। कपाट-सन्धि नामक सामान्य एवं सुप्रसिद्ध विधि को उन्होंने छोड़ दिया है।

श्रीधर ने गुणन की निम्नलिखित विधियों का वर्णन किया है: (१) कपाट-सन्धि, (२) तत्स्थ, (३) रूपविभाग, और (४) स्थानविभाग। महावीर ने भी इन्हीं चार की चर्चा की है। आर्यभट द्वितीय ने केवल कपाट-सन्धि नामक सामान्य विधि का वर्णन किया है। भास्कर द्वितीय ने इन चार विधियों के अतिरिक्त ब्रह्मगुप्त के इष्टगुणन का भी वर्णन किया है। भास्कर द्वितीय द्वारा वर्णित पाँच विधियों का वर्णन पहले के लेखक श्रीपति ने अपने सिद्धान्त शेखर में किया था। गणेश दैवज्ञ[4] (ल. १५४५ ई०) ने 'गेलोसिया' नामक विधि को कपाट-सन्धि

[1] खंड का अर्थ है वे संख्याएँ जिनका योग गुणनफल दी हुई संख्या के तुल्य हो।

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक ५५।

[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक ५६। कोलब्रुक (पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ३२०) का विचार है कि यह नियम उस अवस्था में शुद्ध गुणनफल निकालने के लिए है जब भूल से गुण्यराशि कुछ छोटी या बड़ी ले ली गयी हो। यह विचार ठीक नहीं है।

[4] लीलावती पर टीका (एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, हस्तलिपि नं० १. बी. ६), पृ० १७, १८। इस ग्रंथ में केवल दो विधियाँ दी गयी हैं: (१) कपाटसंधि और (२) कपाटसंधि (ब)।

के नाम से वर्णित किया है, और लिखा है कि बुद्धिमान व्यक्ति गुणन की अनेक दूसरी विधियाँ निकाल सकता है। उनकी कपाट-सन्धि विधि गणित-मञ्जरी में वर्णित है। हमने इस विधि को कपाट-सन्धि (ब) कहा है।

हिन्दुओं द्वारा प्रयुक्त सात[1] विभिन्न विधियों का विवरण नीचे दिया जा रहा है। उनमें से कुछ तो २०० ई० तक की पुरानी हैं। ये विधियाँ आठवीं शताब्दी में अरब को ले जायी जा चुकी थीं और वहाँ से उनका प्रवेश यूरोप में हुआ था। यूरोप में इनके दर्शन मध्यकालीन लेखकों की कृतियों में होते हैं।

कपाट-संधि विधि

श्रीधर ने इस विधि का निम्न प्रकार से वर्णन किया है :

'गुणक के नीचे कपाटसन्धि[2] की भाँति गुण्य को रखकर विलोम अथवा अनुलोम विधि के अनुसार गुणक को एक-एक स्थान हटा-हटा कर क्रम से गुणा करो।'[3]

आर्यभट द्वितीय ने इस विधि का वर्णन तो किया है परन्तु उसका नाम नहीं दिया है :

'गुणक की इकाई का अंक गुण्य के अन्तिमवाले अंक के ठीक ऊपर (रखते हुए गुणक और गुण्य ऊपर नीचे) स्थापित करो। उसके बाद (एक-एक करके) गुण्य के प्रत्येक अंक से गुणक के सभी अंकों को गुणा करो।'[4]

श्रीपति[5] ने इस विधि का कपाट-सन्धि नाम देते हुए इसका निम्न प्रकार से वर्णन किया है ;

'गुणक के नीचे गुण्य को (दरवाजे के) दो पल्लों के जोड़ की भाँति रख कर क्रमशः अनुलोम अथवा विलोम विधि से गुणक को एक-एक स्थान हटा-हटा कर गुणा करो।'

[1] अथवा, प्रकारान्तरों की गणना करने पर दश।

[2] कपाट का अर्थ है 'दरवाजे का पल्ला' और सन्धि का अर्थ है 'जोड़'; अतएव कपाट-सन्धि का अर्थ है 'दरवाजे के पल्लों का जोड़'।

[3] त्रिंशतिका, पृ० ३ आदि।

[4] महा-सिद्धान्त, अध्याय १५, श्लोक ३।

[5] सिद्धान्त-शेखर, अध्याय १३, श्लोक २; गणित-तिलक, १५।

महावीर ने कपाटसंधि नाम की विधि का उल्लेख किया है परन्तु उसका विवरण नहीं दिया है[1]; और भास्कर द्वितीय ने इसे समझाया है परन्तु इसका नाम नहीं दिया है। नारायण ने कपाटसंधि का नाम भी दिया है और उसका वर्णन भी किया है जो प्रायः शब्दशः श्रीधर वाले वर्णन के अनुरूप है।

इस विधि की विशेषताएँ ये हैं: (१) गुण्य और गुणकार के सापेक्ष स्थान और (२) गुण्य के अंकों का मिटाना और उनके स्थान में गुणनफल के अंकों का स्थापन। पहली विशेषता के कारण इस विधि का नाम कपाट-संधि पड़ा और दूसरी विशेषता के कारण गणित के ग्रंथों में मिलनेवाले हनन, वध, इत्यादि शब्दों का आविर्भाव हुआ। ये शब्द आर्यभट प्रथम और ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों में तथा वक्षाली हस्तलिपि में मिलते हैं जिससे निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह विधि ३०० ई० के लगभग भारतवर्ष में ज्ञात थी।

निम्नलिखित उदाहरणों[2] की सहायता से कपाट-संधि की क्रम और उत्क्रम दोनों विधियाँ समझ में आ जायँगी।

क्रम (अनुलोम) विधि

प्रतीत होता है कि इस विधि का अधिक प्रचार नहीं था, क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी के बाद उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका अन्तिम बार उल्लेख श्रीपति ने किया है।

उदाहरण। १३५ को १२ से गुणा करो।

पहले इन संख्याओं को पाटी पर निम्नलिखित प्रकार से लिखते हैं:

गुणक १२

गुण्य १३५

उसके बाद गुण्य के इकाईवाले अंक (५) को गुणक के अंकों से गुणा करते हैं। इस प्रकार ५×२=१०; ० को २ के नीचे लिखते हैं और १ को एक स्थान बायीं ओर ले जाते हैं।[3] इसके बाद ५×१=५; इसमें (आगे ले गये अंक)

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ६।

[2] ये उदाहरण लीलावती की टीकाओं, विशेषकर मनोरंजन नाम की टीका, पर आधारित हैं। मनोरंजन में ये विधियाँ अधिक विस्तार में समझायी गयी हैं।

[3] नया विद्यार्थी कदाचित् इसे पाटी पर अन्यत्र लिख लेता था।

१ को जोड़ने पर ६ प्राप्त होता है। (पाटी पर लिखे हुए) ५ की अब आवश्यकता न होने से उसे मिटा देते हैं और उसके स्थान में प्राप्त ६ को लिख देते हैं। इस प्रकार पाटी पर अब निम्नलिखित संख्याएँ होती हैं:

१२

१३६०

अब गुणक को एक स्थान बायीं ओर हटाते हैं।

१२

१३६०

अब ३ को गुणक के अंकों से गुणा करते हैं। इसका विवरण यह है: ३×२= ६; इस ६ को २ के नीचे लिखे हुए ६ में जोड़ने पर १२ प्राप्त होता है। ६ को मिटाकर उसके स्थान में २ लिख देते हैं। १ को आगे ले जाते हैं। इसके बाद ३×१=३; ३+(आगे ले जाया गया) १=४। ३ को मिटाकर उसके स्थान में ४ लिख देते है। इस प्रकार ३ का १२ से गुणा हो जाने पर १२ को फिर एक स्थान बायीं ओर हटाकर लिखते हैं। अब पाटी पर निम्नलिखित संख्याएँ होती है।

१२

१४२०

अब २×१=२; २+४=६; ४ को मिटाकर उसके स्थान में ६ लिखते है। १×१=१ को ६ के बायीं ओर लिखते हैं। अब क्रिया समाप्त हो जाने के कारण, गुणक १२ को मिटा देते हैं और पाटी पर निम्नलिखित संख्या शेष रहती है:

१६२०

इस प्रकार १२ और १३५ संख्याओं का 'हनन'[1] हो गया और एक नयी संख्या १६२० प्रत्युत्पन्न हो गयी।[2]

पाठक देखेंगे कि गुणक का स्थान और उसका चालन दो महत्त्वपूर्ण कार्य

[1] यही कारण है कि गुणन के अर्थ में हनन और इसी प्रकार के अन्य पर्याय-वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता था।

[2] अतएव गुणनफल को प्रत्युत्पन्न कहते थे।

करता है, अर्थात् (१) गुणक का अन्तिम स्थान इस बात को संकेत करता है कि गुण्य के किस अंक तक गुणा करना है, और (२) गुणक का स्थान इस बात को सूचित करता है कि गुणनफल को उसके नीचे लिखे हुए अंक में जोड़ना है।

कभी-कभी गुण्य के किसी अंक को गुणक से गुणा करने पर गुणनफल गुणक के अन्तिम स्थान से आगे निकल जाता है। ऐसी परिस्थिति में आंशिक गुणनफल का अन्तिम अंक अन्यत्र लिख लिया जाता है। १३५ को ९९ से (उपर्युक्त विधि से) गुणा करने पर पाठक को यह बात देख पड़ेगी।

नये विद्यार्थी को ऐसी परिस्थितियों में निम्नलिखित दो प्रकार की अशुद्धियाँ कर देने की सम्भावना रहती थी: (१) अन्यत्र लिखे हुए अंक का अशुद्ध प्रयोग कर देने की, और (२) गुणक के अन्तिम स्थान के आगे लिखे हुए गुण्य के अंकों को मिटा देने की। इन कारणों से इस विधि का अधिक प्रचार नहीं हुआ, और उत्क्रम विधि अधिक पसन्द की जाती थी।

उत्क्रम (विलोम) विधि :

उत्क्रम विधि के दो प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं।

(अ) पहले में संख्याएँ निम्न प्रकार से लिखी जाती हैं।

गुणक १२

गुण्य १३५

गुणन का आरम्भ गुण्य के अन्तिम अंक से होता है। इस प्रकार १×२= २; १ को मिटाकर उसके स्थान में २ लिखा जाता है; इसके बाद १×१=१, यह १ उसके बायी ओर लिखा जाता है।[1] इसके बाद गुणक १२ को एक स्थान दाहिनी ओर हटाते हैं। पाटी पर अब निम्न संख्याएँ होती हैं।

१२

१२३५

अब, ३×२=६; ३ को मिटाकर उसके स्थान में ६ लिखते हैं। अब ३×१=३ और ३+२=५; २ को मिटाकर उसके स्थान में ५ को लिखते हैं। इसके बाद

[1] **अथवा प्रकारान्तर से: १×१=१ और तब १×२=२, इस प्रकार गुण्य में १ के स्थान में १२ हो जाता है, इत्यादि।**

गुणक को पुनः एक स्थान दाहिनी ओर हटाते है। पाटी पर अब निम्न संख्याएँ होती हैं।

१२
१५६५

अब ५×२=१०; ५ को मिटाकर उसके स्थान में ० लिखते हैं। अब ५×१=५, ५+१=६; ६+६=१२; ६ को मिटाकर उसके स्थान में २ रखते हैं; और १ को दहाई में ले जाते हैं अर्थात् ५ में जोड़ते हैं; इस प्रकार ५ को मिटाकर उसके स्थान में ६ लिखते हैं। पाटी पर अब निम्न संख्या होती है:

१६२०

जो कि इष्ट गुणनफल है। दहाई में जोड़े जानेवाले अंक पाटी पर अन्यत्र लिख लिये जाते हैं और उनका जोड़ हो चुकने पर मिटा दिये जाते हैं।

(ब) दूसरे में (गुणक के अंकों द्वारा) आंशिक गुणनफल क्रम-विधि से किया जा सकता है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि आंशिक गुणनफल उत्क्रम विधि से करने की परिपाटी थी। निम्न उदाहरण से यह विधि समझ में आ जायगी।

उदाहरण। ३२४ को ७५३ से गुणा करो।

गुणक और गुण्य निम्न क्रम से रखे जाते है।

गुणक ७५३
गुण्य ३२४

गुणन का आरम्भ गुणक के अन्तिम स्थान से होता है। ३×७=२१; १ को गुणक ७ के नीचे रखते है और २ को उसके बायीं ओर निम्न प्रकार से

७५३
२१ ३२४

इसके बाद ३×५=१५; ५ को गुण्य ५ के नीचे रखते है और १ को बायीं ओर रखे हुए १ में जोड़ देते है, अर्थात् १ को मिटाकर उसके स्थान में योगफल २ को लिखते हैं। अब पाटी पर निम्न संख्याएँ होती हैं

७५३
२२५३२४

अब ३×३ =९; गुण्य के ३ को मिटाकर उसके स्थान में ९ को लिखते हैं।

७५३
२२५९२४

अब गुणक को एक स्थान दाहिनी ओर हटाते हैं

७५३

२२५९२४

अब ७×२=१४; ४ को ७ के नीचेवाले ५ में और १ को ५ के बायीं ओर के २ में जोडते हैं।

७५३

२३९९२४

अब ५×२=१०; इस १० को ५ के नीचेवाले अंकों में जोड़ते हैं

७५३

२४०९२४

अब २×३=६; इस ६ को ३ के नीचेवाले २ को मिटा कर उसके स्थान में रखते हैं

७५३

२४०९६४

इसके बाद गुणक को पुनः एक स्थान दाहिनी ओर हटाते हैं।

७५३

२४०९६४

अब ४ को क्रमानुसार गुणक के ७, ५ और ३ से गुणा करते हैं; पहले दो गुणनफलो को क्रमशः ७ और ५ के नीचे लिखी संख्याओं में जोड़ते हैं और अन्तिम को ३ के नीचेवाले ४ को मिटाकर उसके स्थान में लिखते हैं। इस प्रकार क्रम से निम्नलिखित संख्याएँ मिलती हैं।

(अ) ७५३

२४३७६४

(ब) ७५३

२४३९६४

(स) ७५३

२४३९७२

यही अन्तिम संख्या २४३९७२ इष्ट गुणनफल है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, गुणक का स्थान और उसका चालन उपर्युक्त क्रिया में महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। गुणक के अंक भी भ्रम-निवारणार्थ क्रम से एक

एक करके मिटा दिये जाते हैं; इस प्रकार परिस्थिति (अ) में ७ मिटा दिया जाता और परिस्थिति (ब) और (स) में क्रमशः ५ और ३ मिटा दिये जाते हैं।

उपर्युक्त विधि का निम्न प्रकारान्तर भी मिलता है:[1]

"गुण्य १३५, गुणक १२। गुणक को गुण्य के अन्तिम स्थान पर रखने पर

१२

१३५

'अंकानां वामतो गतिः' नियम के अनुसार गुण्य के अन्तिम अंक १ को १२ से गुणा करते हैं। इसके अनन्तर १२ को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाते हैं

१२

१२३५

अब, गुण्य के उपान्तिम अंक ३ को १२ से गुणा करने पर निम्नलिखित की प्राप्ति होती है

१२

१२६५

३

पुनः १२ को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाने पर

१२

१२६५

३

अब गुणक के इकाई के अंक ५ को गुण्य १२ से गुणा करने पर निम्नलिखित प्राप्त होता है।

१२

१२६०

३६

अब गुणक को मिटाने पर निम्नलिखित संख्याएँ मिलती हैं:

[1] **कृपाराम दैवज्ञ कृत** लीलावत्युदाहरण, **एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, कलकत्ता, हस्तलिपि नं० ३. एफ. ११०. ए.।**

१२६०
३६

जिन्हें यथास्थान जोड़ने पर १६२० मिलता है (जो इष्ट गुणनफल है)।

पश्चिम में प्रवेश

गुणन की कपाट-सन्धि विधि अरब में प्रविष्ट की गयी थी जहाँ के लोगों ने हिंदुओं से दशमलव गणित सीखा था। इस विधि का प्रयोग अल-ख्वारिज्मी (८२५ ई०), अल-नसवी[1] (ल० १०२५ ई०), अल-हस्सार[2] (ल० ११७५ ई०), अल-कलसादी[3] (ल० १४७५ ई०) और अन्य बहुत से लेखकों के ग्रंथों में मिलता है। निम्न उदाहरण अल-नसवी के ग्रंथ से उद्धृत किया गया है। अल-नसवी ने इस विधि को 'अल-अमल अल-हिन्दी' तथा 'तारिक अल-हिन्दी' ("हिन्दुओं की विधि") कहा है।

उदाहरण। ३२४ को ७५३ से गुणा करना।

४३
३४९
२४३७
२४३९७२ अतएव गुणनफल = २४३९७२।
३२४
७५३
७५३
७५३

यहाँ पर भी गुणक और गुण्य के स्थापन की विधि हिन्दू विधि के बिल्कुल अनुरूप है। गुणक का चालन भी उसी भाँति किया गया है। चूँकि क्रिया कागज पर की गयी है, इसलिए अंकों को मिटाया न जाकर काट दिया गया है।

यूरोप में मैक्सिमस प्लानुडेस के ग्रन्थ में भी उपर्युक्त विधि का विवरण मिलता है।

[1] एफ. वेप्के, १ (६), पृ० ४०७।
[2] एच. सूटर, बिब्लियोथेका मैथेमेटिका २ (३), पृ० १६।
[3] पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १७।

गेलोसिया विधि

'गेलोसिया'[1] नाम से प्रसिद्ध विधि का गणित-मञ्जरी (१६ वीं शताब्दी) में 'कपाट-संधि विधि' कह कर वर्णन किया गया है। गणेशदैवज्ञ-कृत लीलावती-टीका मे भी इसका वर्णन है। प्राचीन ग्रंथकारों ने कपाट-संधि का वर्णन इतना स्थूल किया है कि उसके आधार पर यह कहना कठिन है कि गणेश द्वारा प्राचीन लेखकों की कपाट-संधि विधि को गेलोसिया विधि कहना कहाँ तक संगत है। हमारे मत से गणेश का यह नामकरण अशुद्ध है।[2]

इस समय हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि यह विधि हिन्दुओं का आविष्कार है अथवा अरबों की देन है जिन्होंने, कहा जाता है, १३वीं शताब्दी में इसका प्रयोग किया था।[3] यह विधि १४वीं शताब्दी के अरबी ग्रन्थों तथा तत्कालीन यूरोपीय ग्रन्थों में मिलती है। गणेश दैवज्ञ अपने समय के श्रेष्ठतम गणितज्ञों में से थे और यह तथ्य कि उन्होंने इस विधि को कपाट-संधि विधि कहा है प्रदर्शित करता है कि गेलोसिया विधि निस्संदेह उनके समय के बहुत समय पहले से भारतवर्ष में प्रचलित थी।

इस विधि का केवल एक ही विवरण मिलता है जो इस प्रकार है: "गुण्य में जितने स्थान हों उतने (वर्गाकार) कोष्ठ खींचो और उनके नीचे उतने कोष्ठ खींचो जितने गुणक में स्थान हों। पहले कोष्ठ में, उसके नीचेवाले कोष्ठ में, तथा अन्य कोष्ठो में तिर्यक् रेखाएँ खींचो। गुण्य के प्रत्येक अंक को गुणक के अंकों से, जो एक के नीचे एक स्थापित है, गुणा करो, और गुणन से प्राप्त अंकों को कोष्ठों में रखो। तिर्यक् रेखाओं के दोनों ओर के अंकों का तिर्यक् योग करने पर गुणन-फल प्राप्त होता है यही कपाटसंधि (गुणन) है।"[4]

निम्नलिखित उदाहरण लीलावती पर गणेशदैवज्ञ कृत टीका मे उद्धृत किया गया है:

[1] हम इस विधि को कपाट-संधि (ब) कहेंगे।
[2] पृ० १२६ पर दिया गया श्रीपति का उद्धरण।
[3] स्मिथ, इतिहास, भाग २, पृ० ११५।
[4] दुढिराजात्मज गणेश की गणित-मञ्जरी से अनूदित।

१३५ को १२ से गुणा करना।

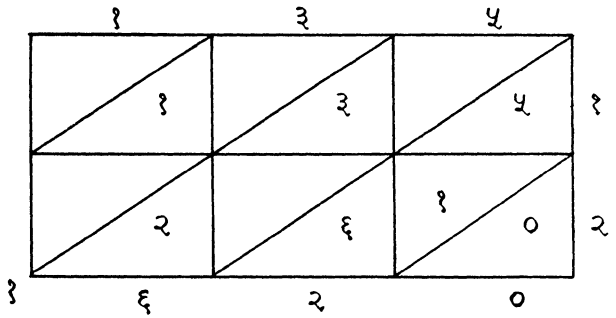

तिर्यक्-गुणन विधि

श्रीधर, महावीर, श्रीपति तथा कुछ परवर्ती लेखकों ने इसे तत्स्थ विधि कहा है, परन्तु इन लोगों ने इस विधि का विवरण नहीं दिया है। श्रीधर केवल यही लिखते हैं कि 'अन्य (विधि) जिसमे गुण्य स्थिर रहता है तत्स्थ कहलाती है'।[1] यह विधि बीजीय है और इसे बीजगणित के तिर्यक् गुणन अथवा वज्राभ्यास के सदृश बतलाया गया है।[2] गणेश (ल० १५४५ ई०) ने इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है :

'गुणन की वह विधि जिसमे सख्याएँ स्थिर रहती है[3] तत्स्थ कहलाती है। उसका विवरण यह है : गुण्य और उसके नीचे गुणक लिखकर इकाई को इकाई से गुणा करो और गुणनफल को उसके नीचे स्थापित करो। इसके बाद इकाई को दहाई से और दहाई को इकाई से गुणा करो, दोनों को जोड़कर गुणनफल की पंक्ति मे दहाई के नीचे रखो। अब इकाई को सैकड़े से, सैकडे को इकाई से और दहाई को दहाई से गुणा करो, और उन्हे जोड़कर पूर्ववत् (पंक्ति मे सैकड़े के नीचे) लिखो; इसी प्रकार आगे शेष स्थानों को गुणा करो। इस प्रकार क्रिया

[1] त्रिशतिका पृ० ३

[2] कोलब्रुक, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १७१, फुटनोट ५।

[3] उस विधि के विपरीत जिसमें गुणक को एक-एक स्थान दाहिनी या बायीं ओर हटाते हैं।

करने पर पंक्ति में रखी हुई संख्या गुणनफल होती है।"[1] यह विधि ८वीं शताब्दी अथवा उसके पूर्व के हिन्दू गणितज्ञों को ज्ञात थी। यह विधि अरब पहुँची और वहाँ से इसका यूरोप में प्रवेश कराया गया, जहाँ पर पैसिओली के सूमा[2] नामक ग्रन्थ मे इसका उल्लेख मिलता है। पैसिओली का कहना है कि यह विधि "अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक कौतुक एवं चातुर्य से पूर्ण है।" गणेश ने भी लिखा है कि "यह (विधि) अत्यन्त कौतुकपूर्ण है और मन्दबुद्धि विद्यार्थी परम्परागत मौखिक शिक्षा के बिना इसे सीख नही सकता"।

स्थान-खण्ड गुणन

इस विधि में गुण्य अथवा गुणक के स्थान अलग-अलग करके रखे जाते हैं। ६२८ ई० के बाद के सभी ग्रंथों में यह विधि मिलती है। भास्कर द्वितीय ने इस विधि[3] का निम्न विवरण दिया है: "पृथक् पृथक् स्थानों से गुणा करके सब को एक साथ जोड़ना चाहिए।"

१३५ को १२ से गुणा करने का उदाहरण लेकर भास्कर द्वितीय ने इस विधि को निम्न प्रकार से समझाया है:

"गुणक के स्थानों से, अर्थात् १ और २ से, गुण्य को अलग-अलग गुणा करने पर तथा प्राप्त गुणनफलों को स्थान के क्रम से जोड़ने पर १६२० गुणनफल मिलता है।"

इस विधि के अनुसार गुणा करने में अंकस्थापन में कई क्रमों का उपयोग किया गया है। उनमे से कुछ निम्नलिखित हैं:

(१)[4]

$$\begin{array}{r} 135 \\ 12 \\ \hline 12 \\ 36 \\ 60 \\ \hline 1620 \end{array}$$

[1] लीलावती, (१, ४-६) पर गणेश की टीका देखिए।
[2] स्मिथ (पूर्वोक्त ग्रंथ, भाग २, पृ० ११२) ने इस ग्रंथ को उद्धृत किया है।
[3] लीलावती, पृ० ३।
[4] टेलर द्वारा प्रयोग की हुई हस्तलिपि। टेलर की लीलावती, पृ० ८-९, देखिए।

(२)[1]

१२ १२ १२
१ ३ ५

१२६०
३६

१६२०

(३)[2]

१३५ १३५
१ २

२७०
१३५

१६२०

गोमूत्रिका[3] विधि

इस विधि का वर्णन ब्रह्मगुप्त के ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त मे मिलता है। विशेषताओं में यह स्थान-खण्ड गुणन के सदृश ही है। इसका एक उदाहरण ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पर पृथूदक स्वामी कृत टीका में मिलता है, जो इस प्रकार है:

उदाहरण। १२२३ को २३५ से गुणा करना।

इन संख्याओं को पहले निम्न प्रकार से लिखते हैं—

२ १ २ २ ३
३ १ २ २ ३
५ १ २ २ ३

उसके बाद २, ३ और ५ से सामनेवाले अंकों को गुणा करते है और प्राप्त गुणनफलों को आधुनिक रीति से जोड लेते हैं,

२ ४ ४ ६
३ ६ ६ ९
६ १ १ ५
---
२ ८ ७ ४ ० ५

प्राप्त योग, अर्थात् २८७४०५, ही इष्ट गुणनफल है।

[1] इस प्रकार की गणना एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, की लाइब्रेरी में संगृहीत गंगाधर की लीलावती-टीका में मिलती है।

[2] इस प्रकार की गणना भी गंगाधर की लीलावती-टीका में उपलब्ध है।

[3] गोमूत्रिका शब्द का अर्थ है "गाय के मूत्र करने की भाँति" अर्थात् "टेढी-मेढ़ी"। कोलब्रुक का पाठ 'गोसूत्रिका' अशुद्ध है। पंडित लोग आज तक ज्योतिष संबन्धी संख्याओं के गुणन करने की विधि को गोमूत्रिका कहते हैं।

स्थान-खंड और गोमूत्रिका विधियाँ गुणन की आधुनिक विधि से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। स्थान-खंड का प्रयोग कागज पर गणना करने में होता था।

रूप-खंड गुणन

यह विधि ६२८ ई० के बाद के सब ग्रंथों मे मिलती है। इस विधि के दो भेद है :

(१) गुणक के दो या अधिक ऐसे भाग करते है जिनका जोड़ गुणक के तुल्य होता है। इसके अनन्तर गुण्य को उन भागों से अलग-अलग गुणा करके उन गुणनफलों को जोड़ लेते है।

(२) गुणक को दो या दो से अधिक गुणनखंडो में विभक्त करते हैं। उसके बाद गुण्य को एक-एक करके उन गुणनखंडों से गुणा करते हैं। अन्तिम गुणनफल इष्ट गुणनफल होता है।

ये प्रकार अरबों और इटैलियनों के ग्रंथों में मिलते है। इन लोगों ने इन्हें हिन्दुओं से सीखा था। इटैलियन लोग इन प्रकारों को क्रमानुसार "स्कैपेजो" और "रेपीगो" कहते है।

बीजीय विधि

इस विधि का नाम इष्ट-गुणन है। ब्रह्मगुप्त ने इस विधि का जो विवरण दिया है उसका उल्लेख किया जा चुका है। भास्कर द्वितीय का विवरण निम्न-लिखित है :

"गुणक में इष्ट संख्या को घटाकर अथवा जोड़कर, शेष अथवा योगफल को (गुण्य से) गुणा करो, और इष्ट संख्या तथा गुण्य के गुणनफल को (क्रम से) उसमे जोड़ अथवा घटा दो।"[1]

यह विधि दो प्रकार की है : पहला प्रकार वह है जिसमे गुणक में इष्ट संख्या जोड़ी जाती है, दूसरा वह जिसमें गुणक मे इष्ट संख्या घटायी जाती है। इष्ट संख्या इस प्रकार ली जाती है कि प्राप्त होनेवाली संख्या से गुण्य को गुणा करने में सरलता हो। दोनों प्रकारों की गुणन-विधियों का स्पष्टीकरण नीचे के उदाहरणों द्वारा किया गया है :

[1] लीलावती, पृ० ३।

$$(१) \quad १३५\times १२=१३५\times(१२+८)-१३५\times ८$$
$$=२७००-१०८०$$
$$=१६२०$$

$$(२) \quad १३५\times १२=१३५\times(१२-२)+१३५\times २$$
$$=१३५०+२७०$$
$$=१६२०$$

इस विधि का प्रयोग अरबों[1] और यूरोपवासियों[2] में मिलता है, जिसका कारण स्पष्टतः भारतीय प्रभाव था।

५. भाग

परिभाषा

प्रतीत होता है कि भाग को गुणन की उलटी क्रिया मानते थे। इस परिकर्म के हिन्दू नाम भागहार, भाजन, हरण, छेदन, इत्यादि है। इन सब शब्दों का शाब्दिक अर्थ, 'टुकड़े करना' अर्थात् 'भाग करना है', केवल हरण शब्द का अर्थ 'ले लेना' है। इस शब्द से प्रदर्शित होता है कि भाग का घटाने से सम्बन्ध है। जिस संख्या का भाग किया जाता है उसे भाज्य, हार्य, इत्यादि कहते हैं। जिससे भाग किया जाता है उसे भाजक, भागहार या केवल हर कहते है, और भाग करने से जो संख्या प्राप्त होती है उसे लब्धि या लब्ध कहते हैं।

करण

१५वीं और १६ वीं शताब्दी तक यूरोप के विद्वान भाग के परिकर्म को कठिन और जटिल समझते रहे है,[3] परन्तु भारतवर्ष में भाग करने की अत्यन्त संतोषजनक विधि बहुत पहले से ही ज्ञात होने के कारण वह कठिन नहीं माना जाता था। वस्तुतः किसी भी हिन्दू गणितज्ञ ने इस परिकर्म को विशेष महत्त्व नहीं दिया है।

[1] उदाहरणतः, बेहाउद्दीन (ल० १६०० ई०)। देखिए जी० इनेस्त्राम, बिब्लिओथेका मैथेमेटिका, ७(३), पृ० ९५।

[2] उदाहरणतः, विडमैन (१४८९ ई०), रीज (१५२२ ई०), इत्यादि। देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १२०।

[3] स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १३२।

आर्यभट प्रथम ने तो अपने ग्रंथ में भाग करने की विधि का उल्लेख भी नहीं किया है। परन्तु चूंकि उसने वर्गमूल और घनमूल निकालने की आधुनिक विधियों का, जो भाग करने की विधि पर ही निर्भर है,[1] वर्णन किया है, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाग करने की विधि उस समय सर्वविदित थी और अत्यन्त साधारण होने के कारण ही आर्यभट ने अपनी आर्यभटीय में उसका वर्णन नहीं किया है। ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, इत्यादि बहुत से परवर्ती लेखकों ने भी आर्यभट का ही अनुकरण करके अपने ग्रंथों में भाग की विधि का वर्णन नही किया हे।

भाग की आधुनिक विधि के प्रचार मे आने के पूर्व, भाग करने में कदाचित् सदृशापवर्तन[2] की विधि का प्रयोग किया जाता रहा हो, क्योंकि सदृशापवर्तन की विधि के उल्लेख आदिम जैन-ग्रंथों मे मिलते हैं।[3] इस विधि का उल्लेख आधुनिक विधि के ज्ञाता महावीर ने भी किया है, सभवतः इसलिए कि कुछ अवस्थाओं में यह विधि अधिक उपयुक्त थी:

"भाज्य को और उसके नीचे भाजक को रखने के अनन्तर सदृशापवर्तन की विधि के अनुसार भाग देकर लब्धि बताना चाहिए।"[4]

बक्षाली हस्तलिपि में अनेक स्थानों पर भाग के परिकर्म का नाम मिलता है परन्तु भाग की आधुनिक विधि का वर्णन नहीं है। हो सकता है कि यह अभाव उस प्रति के खडित होने के कारण है; यद्यपि यह भी संभव है कि उस समय (३०० ई०) भाग की विधि ज्ञात न रही हो।

भाग की विधि

भाग की आधुनिक विधि का वर्णन सबसे पहले श्रीधर की त्रिशतिका में मिलता है जो इस प्रकार है:[5]

"भाज्य और भाजक को तुल्य राशि से अपवर्तन करने के अनन्तर, भाज्य को

[1] उसने परिभाषिक शब्द 'लब्ध' का भी उसी अर्थ में प्रयोग किया है।

[2] दो या दो से अधिक संख्याओं को उनके महत्तम समापवर्तक से भाग देने को सदृशापवर्तन कहते हैं।

[3] तत्वार्थाधिगम सूत्र, उमास्वाति (ल० १६० ई०) कृत भाष्य, एच० आर० कापदीया द्वारा संपादित, बम्बई, १९२६, भाग २, अध्याय २, श्लोक ५२, पृ० २२५।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ११, यदि भाज्य भाजक से पूरा-पूरा विभक्त नहीं होगा, तो इस विधि से लब्धि नहीं प्राप्त होगी।

[5] त्रिशतिका, पृ० ४।

(एक-एक अंक करके) क्रम से विलोम विधि के अनुसार भाग देना चाहिए।"

महावीर का वर्णन इस प्रकार है:[1]

"सदृशापवर्तन विधि के अनुसार (भाज्य और भाजक का) अपवर्तन करने के बाद जो (भाज्य और भाजक) शेष बचे उनमें से भाज्य को नीचे लिख कर भाजक से प्रतिलोम विधि के अनुसार भाग देना चाहिए।"

आर्यभट द्वितीय ने भाग की विधि का और भी अधिक विवरण दिया है:

"भाज्य के नीचे बायीं ओर भाजक को रखकर, भाज्य में से भाजक का जितने गुना घट सके घटाओ; इस प्रकार जितने गुना भाजक घट जाय, वह आंशिक लब्धि हुई। इसके बाद भाजक को एक स्थान हटाकर रखो और उससे शेष (भाज्य) को (पूर्ववत्) भाग दो। जब तक भाज्य भाजक से कम न हो जाय, ऐसा ही करते जाओ।"[2]

निम्नलिखित उदाहरण से समझ में आ जायगा कि हिन्दू लोग पाटी पर किस प्रकार भाग करते थे।

उदाहरण। १६२० को १२ से भाग करना।

भाज्य के नीचे भाजक को इस प्रकार रखते हैं।

१६२०
१२

भाग की क्रिया भाज्य के बिलकुल बायी ओर के अंकों से, यहाँ पर १६ से, आरम्भ होती है। इस १६ को १२ से भाग देते हैं। लब्धि १ को अलग एक पंक्ति मे रखते हैं, और १६ को मिटाकर उसके स्थान में शेष ४ को रखते हैं। भाजक और लब्धि के गुणनफल को भाज्य में घटाने की क्रिया इस प्रकार करते हैं। $१\times१=१$, $१-१=०$, इसलिए भाज्य के १ को मिटा देते हैं; इसके बाद $१\times२=२$, $६-२=४$, अतएव भाज्य के ६ को मिटाकर उसके स्थान में ४ रखते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएँ होती हैं:

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ११; रंगाचार्य का अनुवाद देखिए।
[2] महासिद्धान्त, पृ० १४४।

४२०	१
१२	लब्धि की पंक्ति

भाजक को अब एक स्थान दाहिनी ओर हटाते हैं

४२०	१
१२	लब्धि की पंक्ति

अब ४२ को १२ से भाग देते हैं। लब्धि ३ को पंक्ति में रखते है और ४२ को मिटाकर उसके स्थान में शेष ६ को रखते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्नलिखित संख्याएँ होती है :

६०	१३
१२	लब्धि की पंक्ति

भाजक को पुनः एक स्थान दाहिनी ओर हटाते है

६०	१३
१२	लब्धि की पंक्ति

अब ६० को १२ से भाग देते है और प्राप्त लब्धि ५ को पंक्ति में रखते है, शेष शून्य होने के कारण भाज्य ६० और भाजक १२ दोनों को मिटा देते ह। इस प्रकार लब्धि की पंक्ति[1] में १३५ हो जाता है

१३५
लब्धि की पंक्ति

यही इष्ट लब्धि है।

उपर्युक्त विधि में यदि भाज्य के अंक मिटाये न जायँ और क्रमानुसार प्राप्त होने वाले अंक एक के नीचे एक करके रखे जायँ तो वह भाग करने की आधुनिक विधि का स्वरूप ग्रहण कर लेगी।

उपर्युक्त विधि का आविष्कार सम्भवतः चौथी शताब्दी में (अथवा और पहले) भारतवर्ष में हुआ था। भारतवर्ष से यह अरबों को प्राप्त हुई और नवीं शताब्दी के बाद के अरबी ग्रंथों में इसका वर्णन मिलता है।[2] अरब से यह विधि यूरोप को

[1]लब्धि की पंक्ति प्रायः भाज्य के ऊपर लिखी जाती थी।

[2]अल-ख्वारिज्मी (ल० ८२५ ई०), अल-नसवी (ल० १०२५ ई०); देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त, ग्रंथ पृ० १३८-१३९।

पहुँची, यहाँ पर यह गैली (गैलिया या बटैलो) विधि के नाम से विख्यात हुई।[1] गैली विधि कागज पर की जाती थी; अतएव अंकों को मिटाने के स्थान में उन्हें काट देते थे। १५वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक यह विधि यूरोप में अत्यधिक प्रचलित थी।[2] उपर्युक्त उदाहरण गैली विधि के अनुसार निम्न प्रकार से किया जायगा :

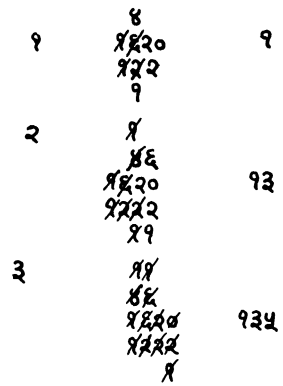

(१), (२) और (३) में अंकों को एक के बाद एक करके काटने की क्रिया की हिन्दू विधि की अंकों को मिटाने की क्रिया के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि गैली विधि वस्तुतः वही है जो हिन्दू विधि। हिन्दू विधि के अनुसार अंकों को मिटाने की अपेक्षा अंकों को काटना अधिक कष्टदायक प्रतीत होता है।

ज्यों-ज्यों लब्धि के अंक निकलते जाते थे, त्यों-त्यों भाजक को एक स्थान दाहिनी ओर हटाने की हिन्दू विधि, यद्यपि अनिवार्य नहीं थी, अरबों द्वारा ग्रहण की गयी और वह अल-ख्वारिज्मी (८२५ ई०), अल-नसवी (ल० १०२५ ई०) जैसे प्रख्यात लेखकों के ग्रंथों में मिलती है। मध्यकालीन लेटिन लेखकों ने इस लक्षण-विशेष को ऐनटीरियोरेशियो नाम प्रदान किया है।

[1] इसे 'स्क्रैच विधि' भी कहते थे।
[2] विस्तृत विवरण के लिए, देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १३६-१३९।

८. वर्ग

परिभाषा

वर्ग शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'पंक्ति' अथवा 'समुदाय'। परन्तु गणित में इसका अर्थ 'वर्गघात' तथा 'वर्गक्षेत्र' अथवा उसका क्षेत्रफल होता है। इस प्रकार आर्यभट प्रथम लिखते है :

"समचतुरस्र[1] (अर्थात् वर्गाकार क्षेत्र) और उसका क्षेत्रफल वर्ग कहलाता है। दो समान संख्याओं का गुणन भी वर्ग है।"[2]

वर्ग शब्द का प्रयोग इस अर्थ में क्यों किया गया इस बात की ओर थीबो ने स्पष्ट संकेत किया है। उनका कथन है कि "इस शब्द के उद्गम की खोज स्पष्टतः उस वर्ग के चित्रात्मक प्रदर्शन में करना चाहिए जिसमें उतने वर्ग बने हो जितनी उसकी एक भुजा में इकाइयाँ हों। इस प्रकार वह वर्ग जिसकी एक भुजा ५ पद की है, ५ ऐसे (आयत) कोष्ठों में विभक्त किया जा सकता है जिनमे से प्रत्येक मे १ पद भुजावाले ५ छोटे-छोटे वर्ग होंगे।"[3] वर्ग शब्द की उत्पत्ति के इस स्पष्टीकरण को शुल्ब-ग्रंथों के कुछ अवतरणों मे समर्थन मिलता है।[4]

वर्ग के अर्थ में कृति शब्द का भी प्रयोग किया गया है। कृति का अर्थ है 'करना' 'बनाना', अथवा 'कर्म'। यह शब्द 'कार्य-विशेष' संभवतः 'चित्रीय प्रदर्शन' का भाव वहन करता है।

वर्ग और कृति दोनों ही शब्द गणित के ग्रंथों मे मिलते है, परन्तु वर्ग शब्द की प्रचुरता है। परवर्ती लेखकों ने, इन शब्दों की परिभाषा करते समय, इनके अर्थ को सीमित कर दिया है। उदाहरणतः श्रीधर का कथन है :

"दो समान संख्याओं का गुणनफल वर्ग है।"[5]

[1] टीकाकार परमेश्वर का कथन है: "चार भुजाओं वाला वह क्षेत्र जिसकी भुजाएँ बराबर हों तथा जिसके दोनों कर्ण भी बराबर हों समचतुरस्र कहलाता है।"

[2] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लो० ३।

[3] थीबो, शुल्ब-सूत्रज, पृ० ४८।

[4] आपस्तम्ब शुल्ब, ३. ७; कात्यायन शुल्ब ३. ९; देखिए बी० दत्त, अमेरिकन मैथेमेटिकलमंथली, जिल्द ३३; १९३१. पृ० ३७५।

[5] त्रिशतिका, पृ० ५।

पृथूदक स्वामी[1], महावीर[2], एवं अन्य लेखकों ने भी वर्ग की ऐसी ही परिभाषाएँ की हैं।

करण

वर्ग का परिकर्म के रूप में मिलना हिन्दू-गणित की एक विशेषता है। तथापि वर्गीकरण की विधि साधारण गुणन की विधि की अपेक्षा सरल नहीं है। हिन्दू लेखकों ने इस परिकर्म को संभवतः इसलिए महत्त्व[3] दिया कि वर्गमूल की विधि वर्ग की विधि की ठीक उलटी थी। यद्यपि वर्गीकरण की विधि पहले पहल ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त में मिलती है, तो भी इसमें संदेह नहीं कि यह विधि आर्यभट प्रथम को ज्ञात थी क्योंकि उन्होंने वर्गमूल की विधि का वर्णन किया है।

ब्रह्मगुप्त ने इस विधि[4] का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में किया है :

"ऊन[5] स्थानवाले अंक के दूने को अगले स्थानवाले अंकों से गुणा करने पर जो आवे उसे ऊन स्थानवाले अंक के वर्ग के साथ (यथास्थान बार-बार) जोड़ने से वर्ग प्राप्त होता है।"

श्रीधर का वर्णन अधिक स्पष्ट है :[6]

"अन्तिम अंक का वर्ग करके, अन्तिम अंक के दूने को शेष अंको से गुणा करो। उन शेष अंकों को एक स्थान दाहिनी ओर हटाओ और पुनः वही क्रिया करो। वर्ग निकालने के लिए इसी प्रकार शेष को एक-एक स्थान हटा-हटा कर उपर्युक्त क्रिया करनी चाहिए।"

[1] देखिए कोलब्रुक, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० २७९।

[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० १२।

[3] इस विधि की चर्चा गणिताध्याय में नहीं की गयी है, परन्तु परिशिष्ट के रूप में इसका वर्णन किया गया है (देखिए ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० २१२)। कदाचित् इस विधि की ओर ब्रह्मगुप्त का ध्यान बाद में गया हो।

[4] कोलब्रुक ने 'राशेरूनम्' का अनुवाद "कम भाग (दि लेस पोर्शन)" किया है, जो अशुद्ध है। उनका कथन है कि "पाठ अस्पष्ट है" (पृ० ३२२, फुटनोट ९), क्योंकि उनके अनुवाद के अनुसार उक्त नियम का कोई अर्थ नहीं लगता। वस्तुतः राशेरूनम् को "ऊनतम स्थान वाला अंक" से अनुवाद करना चाहिए। उक्त विवेचन से द्विवेदी सहमत हैं (पृ० २१२)। यहाँ पर बतलायी गयी विधि 'वर्ग निकालने की अनुलोम विधि है'।

[5] त्रिशतिका, पृ० ५। के और रामानुजाचार्य का अनुवाद अशुद्ध है।

महावीर[1] ने इस विधि का अधिक विवरण दिया है :

"अन्तिम स्थानवाले अंक का वर्ग करके, अन्तिम स्थानवाले अंक को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर उसके दूने को शेष अंकों से गुणा करो। इसके बाद शेष अंकों को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर वही क्रिया बार-बार करो। इस प्रकार (इष्ट संख्या का) वर्ग प्राप्त होगा।"

भास्कर द्वितीय[2] ने इस प्रकार लिखा है :

"अन्तिम स्थानवाले अंक के वर्ग को अपने स्थान के ऊपर लिखो ; अन्य अंकों को अन्तिम स्थानवाले अंक के दूने से गुणा करो, और प्राप्त गुणनफलों को क्रमशः अपने-अपने स्थानों के ऊपर लिखो। अब अन्तिम अंक को मिटा दो और शेष अंकों को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर रखो और पुनः वही क्रिया करो।"

भास्कर ने लिखा है कि उपर्युक्त क्रिया इकाई से भी आरंभ की जा सकती है।[3]

श्रीधर, महावीर, और भास्कर द्वितीय इत्यादि के अनुसार अन्तिम स्थान से आरंभ करके उक्त क्रिया को पाटी पर करने की निम्नलिखित विधि है :

उदाहरण। १२५ का वर्ग निकालना।

पहले संख्या को लिखते हैं

१२५

अन्तिम अंक १ है। इसके वर्ग को अन्तिम स्थान के ऊपर लिखते हैं

१

१२५

इसके बाद अन्तिम अंक का दूना १×२=२; इसे शेष अंकों के नीचे (अनुलोम विधि में २ के नीचे और विलोम विधि में ५ के नीचे) लिखते हैं, और अन्तिम अंक १ को मिटा देते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएं होती हैं :

१

२५

२

[1]गणित-सार-संग्रह, पृ० १३।
[2]लीलावती, पृ० ४।
[3]लीलावती, पृ० ५।

नीचे के अंक २ से शेष अंकों को गुणा करके गुणनफलों को अपने-अपने स्थान के ऊपर लिखते हैं।

१५०
२५

इसके बाद शेष अंकों को एक स्थान दाहिनी ओर हटाते हैं।

१५०
२५

इसके बाद उपर्युक्त विधि की पुनरावृत्ति करते हैं। पहले अन्तिम अंक २ के वर्ग को उस स्थान के ऊपर लिखते हैं:

१५४
।२५

इसके बाद अन्तिम अंक के दूने से (अर्थात् २×२=४) को शेष अंक के नीचे रखकर, २ को मिटा देते हैं।

१५४
५
४

गुणा करने पर, ४×५=२०, और गुणनफल को संगत अंक ५ के ऊपर रखने पर (अर्थात् ० को ५ के ऊपर रखने पर और २ को बायीं ओर के ४ में जोड़ने पर), पाटी पर निम्नलिखित संख्याएँ होती हैं:

१५६०
५

५ को पुनः एक स्थान दाहिनी ओर हटा कर रखते हैं।

१५६०
५

५ का वर्ग करने पर २५ मिलता है। इसे ५ के ऊपर रखते हैं (अर्थात् ५ को ५ के ऊपर और २ को उसके बायीं ओर रखते हैं)।

१५६२५
५

क्रिया की समाप्ति हो जाने के कारण नीचे के ५ को मिटा देते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्या होती है:

१५६२५

यही १२५ का वर्ग है।

ब्रह्मगुप्त और भास्कर द्वितीय के अनुसार यह क्रिया आदिस्थान (अर्थात् इकाई) से भी आरंभ की जा सकती है। ब्रह्मगुप्त ने निम्नलिखित विधि की ओर संकेत किया है:

उदाहरण। १२५ का वर्ग करना।

पहले संख्या लिखी जाती है

१ २ ५

आदि स्थान के अंक के वर्ग (अर्थात् $५^२=२५$) को आदि स्थान के ऊपर लिखते हैं:

२ ५
१ २ ५

इसके बाद $२\times५=१०$ को अन्य अंकों के नीचे रखते हैं, और ५ को मिटा देते हैं:

२ ५
१ २
१ ०

१० से शेष अंकों, अर्थात् १२, को गुणा कर गुणनफल को उन अंकों के ऊपर लिखते हैं:

१ २ २ ५
१ २
१ ०

इसके बाद १२ को एक स्थान बायीं ओर हटाकर, १० को मिटा देते हैं:

१ २ २ ५
१ २

इसके बाद उसी क्रिया की पुनरावृत्ति करते हैं। अर्थात् पहले २ के वर्ग ४ को उसके ऊपरवाले अंक में जोड़ते हैं, और $२\times२=४$ को १ के नीचे लिखते हैं तथा २ को मिटा देते हैं:

१ ६ २ ५
१
४

शेष अंक १ को ४ से गुणा कर गुणनफल ४ को १ के ऊपरवाले अंक में जोड़ देते हैं, और ४ को मिटा देते हैं:

५ ६ २ ५
१

शेष अंक १ को पुनः एक स्थान बायीं ओर हटाते हैं:

५ ६ २ ५
१

इसके बाद पूर्व क्रिया की पुनरावृत्ति करते हैं। अर्थात् १ के वर्ग को उसके ऊपर लिखते हैं, और अंक न होने से क्रिया समाप्त हो जाती है। पाटी पर निम्न-संख्या बचती है:

१ ५ ६ २ ५

जो इष्ट वर्ग है।

वर्ग करने की गौण विधियाँ

सभी हिन्दू गणितज्ञों ने

(१) $\quad न^२=(न-क)(न+क)+क^२$

की चर्चा की है और बतलाया है कि कभी-कभी इसकी सहायता से वर्ग निकालने में सुविधा होती है।

उदाहरणतः,

$$१५^२ = १०\times२० + २५$$
$$= २२५$$

ब्रह्मगुप्त का कथन है:

"दी हुई संख्या में कोई कल्पित संख्या जोड़ दो, पुनः दी हुई संख्या में कल्पित संख्या घटा दो, दोनों को गुणा करो, और गुणनफल में कल्पित संख्या का वर्ग जोड़ दो। इस प्रकार दी हुई संख्या का वर्ग प्राप्त होता है।"[१]

श्रीधर ने इस प्रकार लिखा है:

"जिस संख्या का वर्ग निकालना हो उसमें एक बार कोई कल्पित संख्या जोड़ दो और एक बार वही संख्या घटा दो। जो संख्याएँ इस प्रकार प्राप्त हों उनके गुणनफल में कल्पित संख्या का वर्ग जोड़ दो। इस प्रकार जो संख्या प्राप्त होगी वही वर्ग है।"[२]

[१] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक ६३ (उत्तरार्ध)।
[२] त्रिशतिका, पृ० ५।

महावीर, भास्कर द्वितीय, नारायण, तथा अन्य लेखकों ने भी उपर्युक्त सर्वसमिका दी है।

सूत्र

(२) $(क+ख)^२ = क^२+ख^२+२ क ख$

अथवा इसके व्यापक स्वरूप

$(क+ख+ग+.....)^२ = क^२+ख^२+ग^२+.....२ क ख+.....$

की चर्चा वर्ग निकालने के प्रकारान्तर के रूप में की गयी है। उदाहरणतः, महावीर[१] का कथन हैं:

"दो या दो से अधिक स्थान[२] वाली संख्याओं का वर्ग निकालने के लिए (भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित) सब (अंकों) का (अलग-अलग) वर्ग करो, फिर उन अंकों को एक दूसरे से गुणा कर के प्रत्येक को दूना करो, और सबको (जोड़ कर) एक में मिला दो; इस प्रकार से प्राप्त संख्या ही इष्ट वर्ग है।"

भास्कर द्वितीय[३] लिखते है:

"दोनों (स्थान)खंडों के गुणनफल का दूना करो और उसमें दोनों खंडों के वर्गों के योग को जोड़ दो, इस प्रकार से भी वर्ग की प्राप्ति होगी।"

श्रीधर और महावीर ने निम्नलिखित सूत्र की चर्चा की है:

(३) $न^२ = १+३+५+.....$ न पदों तक।

श्रीधर[४] लिखते हैं:

"१ आदि और २ चय वाली श्रेढ़ी का योग भी वर्ग के तुल्य होता है।" महावीर का कथन अधिक स्पष्ट है:

"१ आदि और २ चय वाली श्रेढ़ी के इष्ट संख्या तुल्य पदों का योग (इष्ट संख्या के) वर्ग के तुल्य होता है।"[५]

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० १३।
[२] स्थान शब्द से इकाई, दहाई, इत्यादि अंक-स्थानों से तात्पर्य है।
[३] लीलावती, पृ० ४।
[४] त्रिशतिका, पृ० ५।
[५] गणित-सार-संग्रह, पृ० १२।

नारायण[1] ने भी उपर्युक्त श्रेढी का उल्लेख किया है। उन्होंने न संख्या का वर्ग ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र[2] भी दिया है :

$न^2 = (क+ख)^2 = (क-ख)^2 + ४ क ख$, जहाँ पर $क+ख = न$।

ध्यान देने योग्य है कि वर्ग करने की उपर्युक्त विधियाँ केवल पूर्णांकों के लिए हैं। भिन्नों का वर्ग करने की विधियाँ भिन्नों के प्रकरण में बतायी जायेंगी।

७. घन

परिभाषा

घन शब्द गणित के सब ग्रंथों में मिलता है। इसका प्रयोग ज्यामितीय और गणितीय दोनों अर्थों में, अर्थात् ठोस घन तथा तीन समान संख्याओं के गुणनफल को सूचित करने में, किया गया है। आर्यभट प्रथम लिखते है:

"तीन समान संख्याओं का गुणनफल तथा बारह बराबर कोणों (और भुजाओं) वाला ठोस भी घन है।"[3]

श्रीधर[4], महावीर[5], और भास्कर द्वितीय[6], प्रत्येक का कथन है कि:

'तीन समान संख्याओं का गुणनफल घन है।'

घन के अर्थ में बृन्द शब्द का भी प्रयोग मिलता है परन्तु बहुत कम।

करण

दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार लिखी हुई संख्याओं का घन निकालने की विधि का प्रयोग भारतवर्ष में पाँचवीं शताब्दी के पहले से हुआ है। यह विधि आर्यभट प्रथम को ज्ञात थी, परन्तु उन्होंने इसे उतना महत्त्व नही दिया जितना घनमूल निकालने की प्रतिलोम विधि को, जिसका उन्होंने वर्णन किया है।

ब्रह्मगुप्त ने घन निकालने की विधि का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है:

[1] गणित कौमुदी, अध्याय १, श्लोक १७-१८।

[2] उनका कथन है: "दो संख्याओं के अन्तर के वर्ग को उन संख्याओं के गुणनफल के चौगुने में जोड़ दो, (तो उन दो संख्याओं के योग का वर्ग प्राप्त होगा)।"

[3] आर्यभटीय, गणित-पाद, श्लोक ३।

[4] त्रिशतिका, पृ० ६।

[5] गणित-सार-संग्रह, पृ० १४।

[6] लीलावती, पृ० ५।

"अन्त्य (अर्थात् अन्तिम स्थानवाले अंक) का घन लिखो।[1] (उसके एक स्थान आगे अर्थात् दाहिनी ओर) अन्त्य के वर्ग को उत्तर (अर्थात् उपान्तिम अंक) के तिगुने से गुणा करके जो आवे वह लिखो; (उसके एक स्थान आगे) उत्तर के वर्ग को अन्त्य के तिगुने से गुणा करके जो आवे वह लिखो; और (उसके एक स्थान आगे) उत्तर का घन लिखो। इस प्रकार (अन्त्य और उत्तर दो अंकों से बनी हुई संख्या का) घन प्राप्त होता है।"

श्रीधर का वर्णन निम्न प्रकार है:[2]

"अन्त्य (अर्थात् अंतिम अंक) का घन लिखो; एक स्थान आगे, अन्त्य के वर्ग को त्रिगुणित आद्य[3] (अर्थात् उपान्तिम अंक) से गुणा करके जो आवे वह लिखो; (इसके एक स्थान आगे) आद्य के वर्ग को अन्त्य से और तीन से गुणा करके जो आवे वह लिखो; और (इसके एक स्थान आगे) आद्य का घन भी लिखो। इस प्रकार से प्राप्त होने वाली संख्या (अन्त्य और आद्य दो अंकों से बनी हुई संख्या का) घन है।"

महावीर का कथन है:[4]

"अन्त्य का घन लिखो; फिर एक स्थान हट कर, अन्त्य के वर्ग को ३ से और शेष (अर्थात् उपान्तिम अंक) से गुणा करके जो आवे उसे लिखो; उसके

[1] टीकाकार पृथूदकस्वामी के अनुसार 'अन्त्य' का अर्थ 'बायीं ओर का अन्तिम अंक' है। इस प्रकार 'उत्तर' का अर्थ 'अन्त्य' के दाहिनी ओरवाला अंक है। जिस संख्या का घन करना होता है उसको टुकड़ों में विभक्त कर लेते हैं और बतलायी हुई विधि के अनुसार एक-एक करके उनका घन निकालते हैं। (आगे का उदाहरण देखिए)। यदि 'अन्त्य' का अर्थ 'दाहिनी ओरवाला अन्तिम अंक' लिया जाय, तो भी कोई अन्तर न पड़ेगा। परन्तु उस अवस्था में 'उत्तर' का अर्थ 'अन्त्य' अंक के बायीं ओरवाला अंक लेना पड़ेगा।

[2] त्रिशतिका, पृ० ६।

[3] इस स्थान पर श्रीधर ने इसके लिए 'पूर्व' शब्द का भी प्रयोग किया है। जिसे ब्रह्मगुप्त ने 'उत्तर' कहा है, वही श्रीधर का 'आद्य' अथवा 'पूर्व' है।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० १५, श्लोक ४७। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस नियम में 'शेष के घन को जोड़ने' की बात नहीं कही गयी है। परन्तु इसके पहलेवाले श्लोक में इस क्रिया का विधान कर दिया गया है, अतएव इसे भी करना चाहिए।

फिर एक स्थान हट कर शेष के वर्ग को त्रिगुणित अन्त्य से गुणा करके जो आवे उसे लिखो; यही (घन करने की) विधि है।"

भास्कर द्वितीय का वर्णन अधिक स्पष्ट है;[1]

"अन्त्य का घन लिखो; फिर अन्त्य के वर्ग को त्रिगुणित आदि से गुणा करके लिखो; फिर आदि के वर्ग को त्रिगुणित अन्त्य से गुणा करके लिखो; और फिर आदि के घन को लिखो। इसको क्रम से एक-एक स्थान हटा कर लिखो[2] और जोड़ लो। इस प्रकार (अन्त्य और आदि दो अंकों से बनी संख्या का) घन प्राप्त होगा। अब (अन्त्य और आदि संज्ञक) खंडयुगों (से बनी हुई संख्या) को अन्त्य मान लो, और उपर्युक्त विधि का बार-बार (तब तक) प्रयोग करो (जब तक एक भी अंक शेष न बचे)। इस प्रकार इष्ट संख्या के घन की सिद्धि होगी। यह विधि आदि (अर्थात् इकाई) के अंक से भी आरंभ की जा सकती है।"

उपर्युक्त विधि निम्नलिखित उदाहरण की सहायता से समझ में आ जायगी।

उदाहरण। १२३४ का घन निकालना।

इस संख्या में चार स्थान हैं। अंतिम स्थान में १ है और उपान्तिम स्थान में २ है। अतएव अन्त्य = १ और आदि = २। इन आदि और अन्त्य से घन की प्रक्रिया निम्नलिखित प्रकार से की जायगी।

(१) अन्त्य का घन $(१)^{३}$ = १

(२) अन्त्य के वर्ग $(१)^{२}$
और त्रिगुणित आदि (३×२) का
गुणनफल $(३ \times १^{२} \times २)$ = ६ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(३) आदि के वर्ग $(२^{२})$, और
त्रिगुणित अन्त्य (३×१) का
गुणनफल $(३ \times १ \times २^{२})$ = १२ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(४) आदि का घन $(२^{३})$ = ८ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

इस प्रकार $१२^{३}$ का मान = १७२८

[1] लीलावती, पृ० ५।

[2] मूल के 'स्थानान्तरत्वेन' शब्द का अनुवाद कोलब्रुक ने 'स्थानों के अनुसार' किया है। यह अनुवाद अशुद्ध है और उस शब्द के भाव को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं करता।

इसके बाद हम आगे के अंक ३ को, अर्थात् संख्या १२३ को लेते हैं। इस संख्या में १२ को अन्त्य और ३ को आदि मानते हैं। घन की क्रिया यह है:

(१) अन्त्य का घन $(१२)^३$ = १७२८

(२) अन्त्य के वर्ग और
त्रिगुणित आदि का
गुणनफल $(३\times१२^२\times३)$ = १२९६ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(३) आदि के वर्ग और
त्रिगुणित अन्त्य का
गुणनफल $(३\times१२\times३^२)$ = ३२४ (एक स्थान हटा कर रखने पर)

(४) आदि का घन $(३^३)$ = २७ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

इस प्रकार $१२३^३$ का मान = १८६०८६७

इसके बाद शेष अंक ४ को भी ले लेते हैं। इस प्रकार संख्या १२३४ हो जाती है। इसमें १२३ को अन्त्य और ४ को आदि कल्पना करते है। घन की क्रिया यह है:

(१) अन्त्य का घन $(१२३^३)$ = १८६०८६७

(२) अन्त्य के वर्ग और त्रिगुणित
आदि का गुणन फल $(३\times१२३^२\times४)$ = १८१५४८ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(३) आदि के वर्ग और त्रिगुणित अन्त्य
का गुणनफल $(३\times१२३\times४^२)$ ५९०४ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(४) आदि का घन $(४^३)$ = ६४ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

अतएव $१२३४^३$ का मान = १८७९०८०९०४

अनुलोम विधि भी, जिसमें क्रिया का आरम्भ इकाई से होता है, इसी प्रकार की जाती है।

घन निकालने की गौण विधियाँ

स्पष्ट है कि सूत्र

(१) $(क+ख)^३ = क^३+३\ क^२ख+३\ कख^२+ख^३$

तथा संगत सूत्र

$$(क+ख+ग+\ldots)^{१}=क^{१}+३\,क^{२}(ख+ग+\ldots)+३क\,(ख+ग+\ldots)^{२}+(ख+ग+\ldots)^{३}$$

घन ज्ञात करने की उपर्युक्त हिन्दू विधि में निहित हैं। महावीर के निम्नलिखित कथन से यह स्पष्ट हो जाता है;[१]

"अन्त्य और अन्य[२] (अर्थात् उपान्त्य) स्थानोंवाले अकों के वर्गों को एक दूसरे से और पुनः ३ से गुणा करो; इसके बाद उनके योग में अन्त्य और अन्य के घनों को जोड़ दो। ऐसा करने पर (अन्त्य और अन्य से बनी हुई संख्या का) घन प्राप्त होगा।"[३]

श्रीपति[४] और भास्कर द्वितीय[५] तथा नारायण[६] ने उक्त सूत्र का कथन निम्नलिखित रूप में किया है:[७]

$$(क+ख)^{३}=क^{३}+३कख\,(क+ख)+ख^{३}।$$

"दी हुई संख्या के तिगुने को उस (संख्या) के दो (गुणन) खंडों से गुणा करके, जो गुणनफल प्राप्त हो उसे उन दो खंडों के घनों के योग में जोड़ देने पर भी (दी हुई संख्या का) घन प्राप्त होता है।"

महावीर ने सूत्र

$$(२)\ न^{३}=न\,(न+क)\,(न-क)+क^{२}\,(न-क)+क^{३}$$

का निम्नलिखित शब्दों मे कथन किया है:[८]

"इष्टरहित राशि, इष्टसहित राशि, और (केवल) राशि; इन तीनों के

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० १५।

[२] 'अन्य' का शाब्दिक अर्थ 'दूसरा' होता है। परन्तु यहाँ पर 'अन्य' से तात्पर्य उस अंक से है जो अन्त्य (अंतिम अंक) के दाहिनी ओर लिखा हुआ है।

[३] अर्थात् $(२३४)^{३}$ की गणना इस प्रकार की गयी है:

$$(२००+३०+४)^{३}=२००^{३}+३\times२००^{२}(३०+४)+३\times२००\,(३०+४)^{२}+(३०+४)^{३}।$$

और उसी विधि का पुनः प्रयोग करने पर $(३०+४)^{३}$ का मान निकाला गया है।

[४] देखिए अंगरेजी अनुवाद, पृ० १७, नोट।

[५] गणित तिलक, २७।

[६] लीलावती, पृ० ५।

[७] गणित-कौमुदी, अध्याय १, श्लोक २३।

[८] गणित सार-संग्रह पृ० १४।

गुणनफल में, उक्त तीन संख्याओं में सब से छोटी संख्या और इष्टवर्ग के गुणनफल को तथा इष्ट के घन को जोड़ देने पर (राशि अर्थात् दी हुई संख्या का) घन प्राप्त होता है।"[1]

श्रेढी-गणित के आधार पर बने हुए न[3] के व्यंजक श्रीधर, महावीर, श्रीपति और नारायण ने दिये हैं। सूत्र

$$(३) \quad न^3 = \sum_{१}^{न} \left\{ ३र(र-१)+१ \right\}$$

को श्रीधर ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है:[2]

"(किसी दी हुई संख्या का) घन उस श्रेढी के योग के तुल्य होता है जिसके पद, ० आदि और १ चय वाली श्रेढी में अन्तिम पद को त्रिगुणित उपान्त्य पद से गुणा करके १ जोड़ देने से, बनते हैं।"

नारायण का कथन है:[3]

"एक आदि और एक चय (और इष्ट संख्या तुल्य पद) वाली श्रेढी में अन्तिम पद को त्रिगुणित उपान्त्य पद से गुणा करके उसमें १ जोड देने से, जो श्रेढी बने उसका योग (इष्ट संख्या का) घन है।"

महावीर ने उपर्युक्त सूत्र को निम्न रूप में दिया है :

$$न^3 = ३\sum_{२}^{न} र(र-१)+न।$$

वे कहते हैं:[4]

"एक आदि, एक चय और इष्ट संख्या तुल्य पदवाली श्रेढी में पूर्वपद को आगे के पद से गुणा करो। इस प्रकार गुणा करने से जो श्रेढी बने उसके योग को ३ से

[1] त्रिशतिका, पृ० ६। के और रामानुजाचार्य का अनुवाद (बिब्लियोथेका मैथेमेटिका जिल्द ३, १९१२-१३) अशुद्ध है। इन महानुभावों ने मूल का अर्थ समझने में अपनी असमर्थता प्रकट की है (देखिए पृ० २०९, टिप्पणी)। सुधाकर द्विवेदी (पृ० ६, टिप्पणी) ने भी इस नियम का अशुद्ध व्याख्या की है। 'सके', पाठ अशुद्ध है।

[2] गणितकौमुदी, अध्याय १, श्लोक २२।

[3] गणिन-सार-संग्रह, अध्याय २, श्लोक ४५।

गुणा करके उसमें (एकादि चय वाली श्रेढी का) अन्तिम पद जोड़ दो। ऐसा करने से (इष्ट संख्या का) घन प्राप्त होता है।"

महावीर ने निम्नलिखित सूत्रों को

(४) $य^1 = य + ३य + ५य + \ldots य$ पदों तक

(५) $य^1 = य^1 + (य-१) \left\{ १ + ३ + \ldots + (२य-१) \right\}$

निम्न शब्दों में व्यंजित किया है:[1]

"इष्ट संख्या तुल्य आदि, द्विगुणित इष्ट संख्या तुल्य चय, और इष्ट संख्या तुल्य पदोंवाली श्रेढी का योग भी (इष्ट संख्या के घन के तुल्य है)।"

"१ आदि, २ चय और इष्ट संख्या तुल्य पदोंवाली श्रेढी के योग को एकोन इष्ट संख्या से गुणा करके इष्ट संख्या के वर्ग में जोड़ देने से भी (इष्ट संख्या का घन प्राप्त होता है)।"

८. वर्गमूल

परिभाषा

इस परिकर्म के लिए संस्कृत में दो शब्द है, मूल और पद। मूल शब्द का संस्कृत साहित्य में प्रचलित अर्थ पेड़ या पौधे की 'जड़' है; अथवा लक्षणा से किसी वस्तु का निम्नतम भाग। इसके अन्य अर्थ 'आधार', 'नींव', 'कारण' और 'उद्गम' इत्यादि हैं। पद शब्द का अर्थ है "पैर का नीचेवाला भाग" (लक्षणा से किसी वस्तु का निम्न भाग), "भाग", "विभाग", "चरणपाद", "तरफ", "स्थान", "कारण", "शतरंज का वर्ग" इत्यादि। दोनों शब्दों मे लगनेवाले अर्थ हैं "अधो-भाग", "किसी वस्तु का निम्नतम भाग", "कारण", अथवा "उद्गम"। अतएव बिलकुल स्पष्ट है कि वर्गमूल से हिन्दू लोगों का तात्पर्य "वर्ग का कारण या उद्म" अर्थात् "वर्ग की एक भुजा" से था। यह ब्रह्मगुप्त के निम्न कथन से अनुमोदित होता है।[2]

"कृति का पद (अर्थात् वर्गमूल) वह है, जिसका वर्ग कृति है।"

वर्गमूल के अर्थ में प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दों में से सबसे प्राचीन शब्द 'मूल' है।

[1] गणित-सार-संग्रह, अध्याय २, श्लोक ४४।
[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १८, श्लोक ३५।

यह शब्द अनुयोगद्वार-सूत्र (ल० १०० ई० पू०) तथा बाद के गणितीय ग्रंथों में मिलता है। पद शब्द बाद में, संभवतः ७वीं शताब्दी से प्रयोग में आया। यह पहले-पहल ब्रह्मगुप्त के ग्रंथ में मिलता है।

मूल शब्द को अरबों ने ग्रहण किया और इसे 'जध्र' (अर्थात् 'वर्ग का आधार') द्वारा अरबी में अनुवाद किया। लेटिन शब्द 'रैडिक्स' भी मूल शब्द का अनुवाद है।[1]

शुल्ब ग्रंथों और प्राकृत साहित्य में वर्गमूल के अर्थ में 'करणी' शब्द का प्रयोग मिलता है। ज्यामिति में समकोण त्रिभुज के कर्ण को 'करणी' कहते हैं। बाद के काल में इस शब्द का प्रयोग उन अंकों के लिए किया गया जिनका पूरा-पूरा वर्ग नहीं होता था, किन्तु जो रेखा द्वारा व्यक्त किये जा सकते थे।

करण

वर्गमूल निकालने की विधि का वर्णन आर्यभटीय में अत्यन्त संक्षेप में निम्न प्रकार से किया गया है;

"(अन्तिम वर्गस्थान में से बड़ी से बड़ी जो वर्ग संख्या घट जाय उसे घटा दो। इसके बाद) सर्वदा वर्गमूल के दुगुने से अवर्गस्थान को भाग दो।[2] भाग करने से प्राप्त लब्धि के वर्ग को (आगे के) वर्गस्थान में से घटाओ। पृथक् पंक्ति में रखी हुई संख्या वर्गमूल सूचित करती है।"[3]

यह विधि निम्नलिखित उदाहरण से समझ में आ जायगी।

उदाहरण। ५४७५६ का वर्गमूल निकालना।

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए, दत्त, अमेरिकन मैथेमेटिकल मंथली, जिल्द ३४, पृ० ४२०-४२३, और जिल्द ३८, पृ० ३७१-३७६।

[2] भाग देने में लब्धि इतनी बड़ी लेना चाहिए कि उसका वर्ग अगले स्थान में से घटाया जा सके। भास्कर प्रथम, नीलकण्ठ, तथा अन्य टीकाकारों के अनुसार, मूल पाठ का यही भाव है।

[3] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक ४। रोडे (जर्नल एशियाटिक, १८८०, जिल्द २), के (जर्नल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १९०७, जिल्द ३, और १९०८, जिल्द ४), सिंह (बुलेटिन कलकत्ता मैथेमटिकल सोसायटी, १९२७, जिल्द १८), क्लार्क (आर्यभटीय) और अन्य लोगों द्वारा इस नियम का पहले अनुवाद किया जा चुका है। उनमें से के का अनुवाद नितान्त अशुद्ध है।

वर्ग और अवर्ग स्थान ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज रेखाओं से चिह्नित करने के बाद वर्गमूल की क्रिया निम्न प्रकार से की जाती है :

।	–	।	–	।		
५	४	७	५	६		
		४				वर्गमूल=२
		४	१	४	३	लब्धि को एक स्थान हटा कर
			१	२		रखने पर वर्गमूल=२३
			२	७		
				९		

लब्धि के वर्ग को घटाने पर

						द्विगुणित मूल से भाग देने पर ४६) १८५ (४ लब्धि को एक स्थान हटा कर रखने
			१	८	४	पर वर्गमूल=२३४
			१	६		
			१	६		
				०		

लब्धि के वर्ग को घटाने पर

क्रिया समाप्त हो गयी। वर्गमूल २३४ मिला।

जी० आर० के[1] ने कहा है कि आर्यभट की विधि बीजीय प्रकृति की है और थिअन ऑव अलेक्जेंड्रिया की विधि के अनुरूप है। उनके दोनों कथन अशुद्ध हैं।[2]

सिद्धसेन गणि (ल० ५५०ई०) के निम्नलिखित अवतरण से, जो उनकी तत्वार्थाधिगम सूत्र[3] की टीका में उपलब्ध है, निश्चित रूप में सिद्ध होता है कि वर्गमूल निकालने की विधि बीजीय नहीं है। १,००,००० योजन व्यास के वृत्त की परिधि ज्ञात करने के संबंध में वे कहते हैं :

"व्यास का मान सौ हजार योजन है; उसे १०० हजार से गुणा करने पर उसका वर्ग हो जाता है; इसे पुनः १० से गुणा करते हैं और तब उस (गुणनफल) का वर्ग-मूल निकालते हैं। प्राप्त वर्गमूल वृत्त की परिधि होगा। (वर्गमूल निकालने

[1] देखिए: जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, जिल्द ३ और ४, में "नोट्स आन इंडियन मैथेमेटिक्स, १ और २, शीर्षक लेख।

[2] विवरण के लिए देखिए सिंह, पूर्वोक्त; क्लार्क, आर्यभटीय, पृ० २३ आदि भी।

[3] ३. ११।

की विधि से) योजन प्राप्त करने में हमें वर्गमूल (की पंक्ति) में क्रमशः ३,१,६,२,२ और ७ अंक मिलते हैं, और नीचे (अन्तिम लब्धि के रूप में) ६३२४५४ संख्या मिलती है। इसको आधा करने पर तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस मिलता है। दी हुई संख्या (इसके वर्ग से) कुछ अधिक है, क्योंकि ४८४४७१ शेष बचता है ...।"

"इसके अनन्तर ४ से गुणा करने पर ७५६०००००००००० की प्राप्ति होती ह। इसका वर्गमूल पूर्णज्या का मान है। इसका वर्गमूल निकालने में क्रमशः २,७,४,९,५, और ४ अंक मिलेंगे।...।"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त अवतरण में वर्गमूल निकालने के लिए आर्यभट की विधि का अनुसरण किया गया है क्योंकि वर्गमूल के अंक क्रमशः एक-एक करके प्राप्त हुए हैं।

परवर्ती लेखकों ने वर्गमूल निकालने की विधि का अधिक विवरण दिया है। उदाहरणतः, श्रीधर कहते है :

"(अंतिम) विषमस्थान में (बड़ी से बड़ी संख्या के) वर्ग को घटाओ (जो घट जाय)। उसके बाद वर्गमूल के दूने को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटा कर (नीचे की पंक्ति में) रखो, और उससे (दी हुई संख्या के) शेष को भाग दो। प्राप्त लब्धि को (भी नीचे की) पंक्ति मे रखो। उस (लब्धि) के वर्ग को (दी हुई संख्या के शेष में) घटाओ, और उसके बाद लब्धि को दूना कर दो। (इस प्रकार से) प्राप्त द्विगुणित) संख्या को पूर्ववत् एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर रखो; और उससे (दी हुई संख्या के) शेष को भाग दो। अन्त में द्विगुणित संख्या को आधा कर दो। (यही इष्ट वर्गमूल होगा)।"[1]

महावीर,[2] आर्यभट द्वितीय[3], श्रीपति[4], और भास्कर द्वितीय[5], की विधियाँ श्रीधर की विधि के अनुरूप है।

[1] त्रिशतिका, पृ० ५। पाटी पर लिखने की विधि की सोदाहरण विवृति के लिए देखिए ए० एन० सिंह, बुलेटिन कलकत्ता मथेमेटिकल सोसायटी, जिल्द १८, पृ० १२९।

[2] गणित-सार-संग्रह, परिकर्म-व्यवहार, श्लोक ३६।

[3] महासिद्धान्त, अध्याय १५, श्लोक ६(उत्तरार्ध) ७।

[4] सिद्धान्तशेखर, अध्याय १३, श्लोक ५। गणित-तिलक श्लोक २३।

[5] लीलावती, पृ० ४। भास्कर द्वितीय की पंक्ति में द्विगुणित मूल रहता है। जबकि आर्यभट प्रथम की पंक्ति में यथार्थ मूल रहता है। देखिए सिंह, पूर्वोक्त।

इस विधि के अनुसार पाटी पर वर्गमूल निकालने की रीति निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी।

उदाहरण। ५४७५६ का वर्गमूल निकालना।

पहले दी हुई संख्या को पाटी पर लिखते हैं और सम तथा विषम स्थानों पर क्रम से क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर रेखाओं द्वारा सूचित करते है; यथा

।–।–।
५४७५६

अन्तिम विषम स्थान ५ में, बड़ी से बड़ी वर्ग संख्या ४ घटायी जा सकती है। अतएव ५ में से ४ घटाते है; शेष १ मिलता है। अतएव ५ को मिटा कर उसके स्थान पर १ रखते हैं। इसके बाद द्विगुणित वर्गमूल (२×२=४) को एक स्थान दाहिनी ओर संख्या के नीचे रखते है:

।–।–।
१४७५६
४

नीचेवाली संख्या ४ से ऊपर की संख्या १४ को भाग देते है; ३ लब्धि मिलती है और २ शेष बचता है। ३ को ४ के दाहिनी ओर रखते हैं और १४ को मिटा कर उसके स्थान में २ रखते हैं, इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएँ होती हैं।

–।–।
२७५६
४३

३ के वर्ग को ऊपर की संख्या २७ में घटाते हैं; १८ शेष बचता है। अतएव २७ को मिटा कर उसके स्थान में १८ रखते हैं। साथ ही साथ ३ को मिटा कर उसके स्थान में ३ का दूना अर्थात् ६ रखते हैं।

–।–।
१८५६
४६

अब ४६ को एक स्थान दाहिनी ओर हटा कर लिखते हैं।

–।–।
१८५६
४६

इसके बाद १८५ को ४६ से भाग देते हैं, ४ लब्धि मिलती है और १ शेष बचता है। ४ को ४६ के दाहिनी ओर रखते हैं और १८५ को मिटा कर उसके स्थान में १ रखते हैं।

$$-1$$
$$16$$
$$464$$

अब ४ के वर्ग को १६ में घटाते हैं, शेष ० बचता है। अतएव १६ को मिटा देते हैं। इसके बाद ४ को दूना करके रखते हैं।

$$468$$

यह द्विगुणित वर्गमूल है। इसको आधा करने पर २३४ मिलता है जो इष्ट वर्गमूल है।

प्रतीत होता है कि हिन्दू अंकों के साथ वर्गमूल निकालने की उपर्युक्त विधि भी ८वीं शताब्दी के लगभग अरब को पहुँचायी गयी थी, क्योंकि यह विधि गणित के अरबी ग्रंथों में बिलकुल इसी स्वरूप मे मिलती है।[1]

प्यूरबाख (१४२३-१४६१ ई०), शूके (१४८४ ई०), लारोश (१५२० ई०), गेमा फ्रिसियस (१५४० ई०), कतानिओ (१५४६ ई०) इत्यादि यूरोपीय लेखकों के ग्रंथों में भी यह विधि इसी स्वरूप मे मिलती है।[2]

९. घनमूल।

परिभाषा

इस परिकर्म के लिए हिन्दू गणित में दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं; घनमूल और घनपद। इन शब्दों की व्याख्या की जा चुकी है।

करण

इस परिकर्म का वर्णन सर्वप्रथम आर्यभटीय में मिलता है। परन्तु यह वर्णन अत्यन्त संक्षेप में है:

"(अंतिम घन स्थान में सबसे बड़ी घन संख्या घटाओ। इसके बाद) द्वितीय अघन (स्थान) से (आरम्भ करके जो संख्या बायीं ओर हो उसे) घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग दो। (इसके बाद) प्रथम घन से (आरम्भ करके बायीं

[1] उदाहरणार्थ, अल्-नसवी (१०२५ ई०)। देखिए सूटर, बिब्लियोथेका मैथेमेटिका, जिल्द ७, पृ० ११४ और वेप्के, जर्नल एशियाटिक, जिल्द १, १८६३।

[2] देखिए स्मिथ, हिस्ट्री, जिल्द २, पृ० १४४-१४८।

ओर जो संख्या हो उसमें से) त्रिगुणित घनमूल के गुणनफल को, तथा (अगले) घनस्थान से लब्धि के घन को घटाओ।"[1]

टीकाकारों की व्याख्या के अनुसार, इकाई का स्थान घन स्थान है, दहाई का स्थान प्रथम अघन स्थान है, सैकड़े का स्थान द्वितीय अघन स्थान है, हजार का स्थान घन स्थान है, दस हजार का स्थान प्रथम अघन स्थान है, इत्यादि।[2] दी हुई संख्या के ऊपर घन, प्रथम अघन और द्वितीय अघन स्थानों के चिह्न लगाने के बाद, घनमूल निकालने की क्रिया का आरम्भ अंतिम घन (स्थान) में सबसे बड़ी घन संख्या के घटाने से होता है। यद्यपि यह क्रिया उपर्युक्त नियम में स्पष्टतया नही वर्णन की गयी है, तो भी टीकाकारों का मत है कि 'घनरय मूलवर्गेण' कहने में यह क्रिया निहित है। उपर्युक्त विधि निम्नोदाहरण से स्पष्ट हो जायगी।

उदाहरण। १९५३१२५ का घनमूल निकालना।

अंकों के ऊपर घन और अघन के चिह्न लगाने के बाद घनमूल की क्रिया का क्रम इस प्रकार है :

	घ अ अ घ अ अ घ	
	१ ९ ५ ३ १ २ ५	
घन घटाने पर:	१	(स) घनमूल= १
घनमूल के वर्ग के तिगुने	३) ९ (२	(अ) घनमूल[2] के बाद
(अर्थात् ३ × १[2]) से भाग देने पर:	६	लब्धि रखने पर मिलता है
लब्धि वर्ग और त्रिगुणित घनमूल के	३५	१२
गुणनफल (३ × १ × २[2])को घटाने पर:	१२	(ब)
लब्धि के घन (अर्थात् २[3]) को	२३३	
घ टाने पर:	८	(स)

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक ५। इस नियम का अनुवाद रोडे, के, सिंह, क्लार्क, सेनगुप्त, आदि ने किया है। के का अनुवाद नितान्त अशुद्ध है। अन्य अनुवाद स्वतंत्र होते हुए भी परिणामतः शुद्ध हैं। क्लार्क का 'दि (प्रिसीडिंग) घन' प्रयोग कुछ भ्रमात्मक है।

[2] भाग देने में लब्धि इतनी बड़ी लेना चाहिए कि अगली दो क्रियाएँ (ब) और (स) की जा सकें।

घनमूल के वर्ग के तिगुने (अर्थात् ४३२)२२५१)५		(अ) घनमूल १२ के आगे
३ × १२^2) से भाग देने पर	२१६०	लब्धि लिखने पर
त्रिगुणित घनमूल और लब्धिवर्ग के गुणन-	९१२	मिलता है १२५
फल (अर्थात् ३ × १२ × ५^2)को घटाने पर	९००	(ब)
	१२५	
लब्धि के घन (अर्थात् ५^3) को घटाने पर	१२५	(स)

इस प्रकार घनमूल= १२५

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि घनमूल निकालने की आधुनिक विधि आर्यभट की विधि का लघुरूप है।

ऊपर दी हुई विधि हिन्दू गणित के सब ग्रंथों में मिलती है। उदाहरणतः, ब्रह्मगुप्त कहते हैं;

"(अंतिम घन स्थान पर्यन्त संख्या में सबसे बड़ी घन संख्या घटाने के बाद) द्वितीय अघन स्थान से (आरम्भ करके बायीं ओर) जो संख्या हो उसको घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग दो। प्राप्त लब्धि के वर्ग और त्रिगुणित घनमूल के गुणनफल को प्रथम अघन (पर्यन्त संख्या) में और तत्पश्चात् लब्धि के घन को घन (स्थान पर्यन्त संख्या) में घटाओ। ऐसा (बार-बार) करने पर घनमूल प्राप्त होगा।"[1]

श्रीधर ने पाटी पर की जानेवाली प्रक्रिया का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। वह इस प्रकार है:

"(इकाई से आरम्भ करके क्रमशः) एक घन स्थान होता है और दो अघन स्थान होते है। (दी हुई संख्या के अंकों के ऊपर घन और अघन चिह्नों को अंकित करो)। (अंतिम) घन स्थान में से (सबसे बड़ी) घन संख्या घटाओ। घनमूल को तीसरे पद (अर्थात् द्वितीय अघन स्थान) के नीचे रखकर, (द्वितीय अघन स्थान को) घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग दो। लब्धि को (घनमूल की)

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७५। देखिए कोलब्रुक, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० २८०।

पंक्ति में (घनमूल के दाहिनी ओर) रखकर उसके वर्ग को त्रिगुणित अन्त्य (घनमूल) से गुणा करके ऊपर की संख्या मे घटाओ।[1] पुनः (पंक्तिवाली संख्या को घन-मूल मानकर) '(घनमूल को) तृतीय पद (अर्थात् द्वितीय अघन स्थान) के नीचे रखो' वाली विधि का प्रयोग करो। यही घनमूल निकालने की विधि है।"[2]

आर्यभट द्वितीय ने श्रीधर का अनुकरण किया है और घनमूल निकालने की विधि को निम्न प्रकार वर्णित किया है :

"(इकाई से आरम्भ करके) पदों (अर्थात् स्थानों) की क्रम से 'घन', 'भाज्य' और 'शोध्य' संज्ञाएँ होती है। (अंतिम) घन स्थान से (सबसे बड़ी) घन संख्या को घटाना चाहिए। घनमूल को 'भाज्य' पद के नीचे रखकर, उस पद को त्रिगुणित घनमूल वर्ग से भाग देना चाहिए, और लब्धि को (घनमूल की) पंक्ति में रखकर उसके वर्ग को त्रिगुणित पूर्व (अर्थात् घनमूल) से गुणा करके शोध्य से, और (लब्धि के) घन को घन-पद से घटाना चाहिए। (इस प्रकार से) प्राप्त (आंशिक) घनमूल को शोध्य के नीचे रखकर पुनः उपर्युक्त क्रिया करनी चाहिए।"[3]

जिस संख्या का घनमूल निकालना होता है उसके अंकों को (इकाई से आरम्भ करके) तीन-तीन अंकों के समूह मे विभक्त करते है (जिन्हें क्रम से घन, अघन और अघन कहते हैं)। बायीं ओर से आरम्भ करके अन्तिम घन पर्यन्त संख्या से इष्ट घनमूल का पहला अंक (बायीं ओर से गणना करने पर) मिलता है। दाहिनी ओर के अगले तीन अंकों से घनमूल का दूसरा अंक मिलता है, और इसी प्रकार आगे के तीन-तीन अंकों से घनमूल के अन्य अंक प्राप्त होते हैं। जब क्रिया पाटी पर की जाती है, तब संख्या के अंकों के ऊपर घन और अघन के चिह्न लगा देते है, और उसके बाद निम्न रीति से क्रिया करते है :

उदाहरण। १९५३१२५ का घनमूल निकालना।

पहले संख्या को लिखते है और अंकों के ऊपर घन और अघन चिह्न लगाते है

घ अ अ घ अ अ घ
१ ९ ५ ३ १ २ ५

[1] नीचे की पंक्ति में लिखे हुए घनमूल को 'अन्त्य' और लब्धि को 'आदि' कहा गया है।

[2] त्रिशतिका, पृ० ६ आदि।

[3] महासिद्धान्त, पृ० १४५।

अन्तिम घन स्थान से (जिसके ऊपर घ लिखा है) बड़ी से बड़ी घन संख्या घटाते ह। यहाँ पर १[३] घटावेंगे। घटाने से शून्य बचता है। इसलिए १ को मिटा देते हैं। १[३] के घनमूल १ को द्वितीय अघन (अर्थात् अंतिम घन स्थान के दाहिनी ओर वाले स्थान) के नीचे लिखते है।

घ	अ	अ	घ	अ	अ	घ
९	५	३	१	२	५	
१						

३)९(२
६
३

घनमूल का दूसरा अंक प्राप्त करने के लिए द्वितीय अघन स्थानवाली संख्या ९ को घनमूल के वर्ग के तिगुने (अर्थात् ३ × १[२]=३) से भाग देते हैं। (ध्यान रखना चाहिए कि भाग निःशेष न होना चाहिए)। लब्धि २ मिलती है जिसे प्रथम अघन स्थान के नीचे लिखते है; और शेष ३ बचता है, जिसको ९ को मिटाकर उसके स्थान में रखते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएँ होती है;

घ	अ	अ	घ	अ	अ	घ
३	५	३	१	२	५	
१	२					

३५
१२
२३

नीचे की पंक्तिवाली संख्या १२ के २ को आदि और १ को अन्त्य कहते है। अब त्रिगुणित घनमूल और आदिवर्ग के गुणनफल को प्रथम अघन पर्यन्त संख्या (अर्थात् ३५) में घटाते है, शेष २३ बचता है। अतएव ३५ को मिटा देते है और उसके स्थान में २३ लिखते हैं।

अ	अ	घ	अ	अ	घ
२	३	३	१	२	५
१	२				

२३३
९
२२५

इसके बाद आदि के घन (अर्थात् ८) को घन स्थानवाली संख्या में घटाते है, शेष २२५ बचता है। अतएव २३३ को मिटाकर उसके स्थान में २२५ लिखते हैं।

अ	अ	घ	अ	अ	घ
२	२	५	१	२	५
१	२				

क्रिया का एक चक्र अब समाप्त हो गया। अतएव नीचे की संख्या १२ को घनमूल मान कर उपर्यक्त क्रिया की पुनरावृत्ति करते हैं। पहले १२ को द्वितीय अघन स्थान के नीचे लिखते है। पाटी पर अब निम्न संख्याएँ होती हैं;

अ	अ	घ	अ	अ	घ	
२	२	५	१	२	५	४३२)२२५१(५
		१	२			२१६०
						९१

अब पूर्ववत् घनमूल-वर्ग के तिगुने (अर्थात् $३ \times १२^२ = ४३२$) से २२५१ को भाग देते हैं; लब्धि ५ को प्रथम अघन के नीचे लिखते हैं और शेष ९१ को २२५१ को मिटाकर उसके स्थान में लिखते हैं। इस प्रकार पाटी पर अब निम्न संख्याएँ होती हैं।

घ	अ	अ	घ	९१२
९	१	२	५	९००
१	२	५		१२

अब १२ को अन्त्य और ५ को आदि कल्पना करते हैं। त्रिगुणित अन्त्य और आदि-वर्ग के गुणनफल (अर्थात् $३ \times १२ \times ५^२ = ९०^०$) को द्वितीय अघन स्थान (अर्थात् ९१२) से घटाते हैं, शेष १२ बचता है। अतएव ९१२ को मिटा कर उसके स्थान में १२ लिखते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएँ होती हैं।

अ	अ	घ	१२५
१	२	५	१२५
			०

अब आदि के घन (अर्थात् $५^३ = १२५$) को घन स्थान से घटाते हैं; शेष ० बचता है। अतएव १२५ को मिटा देते हैं। अब पाटी पर केवल द्वितीय पंक्ति शेष बचती है

१२५

यही संख्या इष्ट घनमूल है। शेष शून्य होने के कारण यह पूर्ण घनमूल है।

पाटी पर लिखी हुई संख्याओं को बार-बार मिटाते रहने का कारण यह है कि पाटी इतनी बड़ी नहीं होती कि संपूर्ण क्रिया के अंक उस पर लिखे जा सकें। अंकसमूह के तीनों अंक एक साथ लिखे जाते है। भाग करने और घटाने की क्रिया अंकों को अन्यत्र पाटी पर लिखकर की जाती थी (जैसा कि ऊपर के उदाहरण में किया गया है); और बाद में मूल संख्या को मिटा कर आवश्यक परिवर्तन किये जाते थे।

१०. क्रिया की शुद्धता की परीक्षा

गणितीय परिकर्मों की अनुलोम और विलोम दोनों विधियों से प्राप्त परिणामों की शुद्धता की परीक्षा करने का नियम सबसे पहले महा-सिद्धान्त में मिलता है जहाँ पर इसका निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है :[1]

"गुण्य, गुणक और गुणनफल प्रत्येक के अपने अंकों को अलग-अलग तब तक जोड़ो जब तक जोड़ एक अंक का न हो जाय[2]; इसी प्रकार भाज्य, भाजक और लब्धि प्रत्येक के अपने अंकों को भी अलग-अलग जोड़ो। यदि गुण्य और गुणक (के उक्त योगों) के गुणनफल के अंकों का योग, गुणनफल (के अंकों के योग) के तुल्य हो, तो (समझना चाहिए कि) गुणन शुद्ध है; यदि लब्धि और भाजक के (योगों के) गुणनफल में शेष (के अंकों) का योग जोड़ देने पर जो संख्या आवे उसके (अंकों के योग के) बराबर, भाज्य (का योग) हो, तो (समझना चाहिए कि लब्धि और शेष शुद्ध हैं (अर्थात् भाग शुद्ध है)। वर्गसंख्या के अपने अंकों का योग यदि वर्गमूल के (अपने अंकों के जोड़ के) वर्ग धन शेष के तुल्य हो, तो (समझना चाहिए कि) वर्ग और वर्गमूल शुद्ध है। घन (के अपने अंकों) का योग यदि घनमूल (के अंकों) के योग के घन धन शेष के तुल्य हो, तो (समझना चाहिए कि) घन और घनमूल तथा शेष शुद्ध है। यह गुणन इत्यादि की (शुद्धता की परीक्षा करने की) सरल शोधनिका (कसौटी) है।"

उपर्युक्त नियमों की उपपत्ति निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायगी। मान लो कि

$$न = प_म\, प_{म-१} \ldots\ldots प_२\, प_१$$

दशमलव संकेत में लिखी हुई म अंकों की संख्या है। मान लो कि इस संख्या के अंकों का योग $स_१$ है, और $स_१$ के अंकों का जोड़ $स_२$ है, इत्यादि। अतएव

$$न = प_१ + १०प_२ + \ldots\ldots + १०^{म-१} प_म,$$

[1] महा-सिद्धान्त, पृ० २४५।

[2] अर्थात् पहले संख्या के अंकों को जोड़ो; इसके बाद जोड़ करने से प्राप्त संख्या के अंकों को जोड़ो, और यह क्रिया तब तक करो जब तक एक अंक की संख्या न प्राप्त हो जाय।

और $स_१ = प_१ + प_२ + \ldots\ldots + प_म.$

अतएव, घटाने पर

$$न - स_१ = ९(प_२ + ११प_३ + \ldots\ldots),$$

इसलिए

$$न \equiv स_१ \qquad (\text{मापांक } ९)$$

इसी प्रकार

$$स_१ \equiv स_२ \qquad (\text{मापांक } ९)$$
$$स_२ \equiv स_३ \qquad (\text{मापांक } ९)$$
$$\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots$$
$$\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots$$
$$स_{र-१} \equiv स_र \qquad (\text{मापांक } ९)$$

जहाँ पर सर केवल एक अंक की संख्या है, जो कि या तो ९ के बराबर है या ९ से छोटी है। मान लो कि यह अंक न′ है। तो

$$न \equiv न' \qquad (\text{मापांक } ९)$$

अतएव यह सिद्ध हुआ कि किसी संख्या के अंकों को बार-बार जोड़ने से जो अंक प्राप्त होता है वह उस संख्या को ९ से भाग देने से प्राप्त शेष के तुल्य होता है।

अब, संख्या ना की कल्पना करो जो उस संख्या के तुल्य है जो प अन्य संख्याओं $न_१, न_२, \ldots न$ के गुणनफल में अन्य संख्या रा को जोड़ने या घटाने से प्राप्त होती है। तो हम लिख सकते हैं कि—

$$ना = न_१ न_२ \ldots\ldots न_प \pm रा$$

अब, मान लो कि

$$न_१ \equiv न'_१ \qquad (\text{मापांक } ९)$$
$$न_२ \equiv न'_२ \qquad (\text{मापांक } ९)$$
$$\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots$$
$$\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots$$
$$न_प \equiv न'_प \qquad (\text{मापांक } ९)$$

इनको गुणा करने पर,

$$न_१ न_२ \ldots\ldots न_प \equiv न'_१ न'_२ \ldots\ldots न'_प \qquad (\text{मापांक } ९)$$

पुनश्च, यदि

$$\text{रा} \equiv \text{र}' \qquad \text{(मापांक ९)}$$

तो

$$\text{न}_1\ \text{न}_2 \ldots\ldots \text{न}_\text{प} \pm \text{रा} \equiv \text{न}'_1 \text{न}'_2 \ldots\ldots \text{न}'_\text{प} \pm \text{र}' \quad \text{(मापांक ९)}$$

अतएव

$$\text{ना} \equiv \text{न}'_1\ \text{न}'_2 \ldots\ldots \text{न}'_\text{प} \pm \text{र}' \quad \text{(मापांक ९)}$$

विशेष रूप से, यदि

$$\text{न}_1 = \text{न}_2 \ldots\ldots = \text{न}_\text{प} = \text{न},$$

तो

$$\text{न}'_1 = \text{न}'_2 = \ldots\ldots = \text{न}'_\text{प} = \text{न}'$$

अतएव

$$\text{ना} = \text{न}^\text{प} \pm \text{रा}$$

और $$\text{ना} \equiv \text{न}'^\text{प} \pm \text{र}' \qquad \text{(मापांक ९)}$$

उपर्युक्त विवेचन से महा-सिद्धान्त के नियमों की सत्यता का निरूपण हो जाता है।

गुणन की शुद्धता की परीक्षा करने का निम्नलिखित नियम नारायण ने दिया है :[1]

"गुण्य और गुणक दोनों को (अलग-अलग) किसी कल्पित संख्या से भाग देकर जो शेष मिलें उनके गुणनफल को कल्पित संख्या से भाग दो। उपलब्ध शेष यदि उस शेष के बराबर हो जो (गुण्य और गुणक के) गुणनफल को कल्पित संख्या से भाग देने पर मिलता है, तो (समझना चाहिए कि गुणन) शुद्ध है।"

यहाँ पर यह देखने योग्य है कि ९ अंक से भाग देकर गणित-शुद्धि की परीक्षा करने के संपूर्ण नियम पहले पहल भारतवर्ष में मिलते हैं। गुणन और भाग की क्रियाओं के परीक्षण के नियम सम्भवतः हिन्दुओं को बहुत पहले से ज्ञात है। परन्तु चूंकि इन परीक्षणों की गणना मौलिक परिकर्मों में नही की जाती थी, इसलिए वे

[1] इस नियम को सुधाकर द्विवेदी ने उद्धृत किया है। देखिए सुधाकर द्विवेदी, गणित का इतिहास (हिन्दी में), बनारस, १९१०, पृ० ७९।

पाटी-गणित के ग्रंथों में नहीं दिये गये हैं।[1] कदाचित् नारायण ही पहले गणितज्ञ हैं जिन्होंने किसी भी संख्या से भाग देकर गणित की शुद्धता के परीक्षण का नियम दिया है।

प्रारम्भिक अरब लेखकों के ग्रंथों में ९ से भाग देकर गुणन और निःशेष भाग के परीक्षण के नियम मिलते हैं परन्तु सब परिकर्मों की शुद्धता की परीक्षा करने के संपूर्ण नियम सबसे पहले अविसेन्न[2] (ल० १०२० ई०) के ग्रंथों में मिलते है, जिसने अपने नियमों को 'हिन्दू' नियम कहा है। मैक्सिमस प्लानुडेस[3] ने भी नौ से भाग देनेवाले नियम को हिन्दू-व्युत्पत्ति का बताया है।

अतएव नौ से भाग देकर गणितशुद्धि की परीक्षा करने के नियम की हिन्दू व्युत्पत्ति के विषय में कोई संदेह नहीं है। आर्यभट द्वितीय के पहले इसका प्रयोग संभवतः गुणन और भाग के परीक्षण में किया जाता था। जब इसका पदार्पण अरब में हुआ तब कदाचित् वह इसी अपूर्ण अवस्था में था। उसके बाद सम्भवतः अरबों और हिन्दुओं दोनों ने अलग-अलग इसको पूर्ण किया। अरबों और महसिद्धान्तकार आर्यभट द्वितीय के नियमों की विभिन्नता का कदाचित् यही कारण है।[4] तथापि यह निश्चित है कि हिन्दुओं ने उक्त नियम को अरबों से नहीं पाया, क्योंकि आर्यभट द्वितीय का ग्रंथ अविसेन्न के पहले

[1] उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भास्कर द्वितीय कृत करणकुतूहल की सुमतिहर्ष (१६१९ ई०) कृत टीका में तथा सूर्यसिद्धान्त की भूधर-कृत टीका में नौ अंक के आधार पर गणित की शुद्धता के परीक्षण के लिए किसी प्राचीन लेखक जीवदत्त (बीजदत्त ?) का निम्नलिखित नियम उद्धृत किया गया है।

"गुण्य और गुणक (दोनों को अलग-अलग) ९ से भाग देने पर जो शेष आवें, उनके गुणनफल को ९ से भाग दो। यदि उपलब्ध शेष, गुण्य और गुणक के घात को ९ से भाग देने से प्राप्त शेष के तुल्य हो तो गणित को शुद्ध कहना चाहिए।" देखिए, करणकुतूहल, (माधव शास्त्री द्वारा संपादित, बम्बई १९०१), अध्याय १, श्लोक ७ पर सुमति हर्ष की टीका; सूर्यसिद्धान्त पर भूधर की टीका।

[2] एफ० वेपके, जर्नल एशियाटिक (६), जिल्द १, १८६३ पृ० ५०० आदि।

[3] देखिए, डेलाम्बर, हिस्ट्री डे ल ऐस्ट्रानमी ऐन्सियन, जिल्द १, पेरिस, १८१७, पृ० ५१८ आदि।

[4] देखिए बी० दत्त, जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जिल्द २,३ १९२७, पृ० २६५।

का है। बेहाउद्दीन[1] (ल० १६०० ई०) ने नौ से भाग देकर गाणितिक क्रियाओं की परीक्षा का जो नियम दिया है उसी प्रकार का है जैसा कि आर्यभट द्वितीय का।

११. भिन्न

प्रारम्भिक प्रयोग

भारतवर्ष में भिन्नों का ज्ञान बहुत प्राचीन काल से मिलता है। प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में $\frac{1}{2}$ (अर्ध) और $\frac{3}{4}$ (त्रिपाद[2]) भिन्नों का प्रयोग किया गया है। मैत्रायणी-संहिता[3] में एक स्थान पर $\frac{1}{16}$ (कला), $\frac{1}{12}$ (कुष्ठ), $\frac{1}{8}$ (शफ), और $\frac{1}{4}$ (पाद) भिन्नों की चर्चा आयी है। गणित के प्राचीनतम ज्ञात ग्रंथ, शुल्ब सूत्र, में भिन्नों का केवल कथन ही नहीं बल्कि प्रश्नों के न्यास और करण में प्रयोग भी किया गया है।[4]

लोगों का कथन है कि मिस्र और बाबुल के प्राचीन निवासियों ने एक अंश-वाली भिन्नों का प्रयोग किया था, परन्तु ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता जिससे सिद्ध हो सके कि उन लोगों ने यौगिक भिन्नों का प्रयोग किया था। यौगिक भिन्न का सबसे प्राचीन ज्ञात उदाहरण ऋग्वेद में मिलनेवाली भिन्न $\frac{3}{4}$ है। संस्कृत के 'त्रिपाद' शब्द का अर्थ "तीन पद" है। परन्तु जब इसका प्रयोग अंक के अर्थ में किया जाता है तब यह भिन्न, किसी वस्तु के उस भाग को सूचित करता है जिसका पूर्ण वस्तु से वही अनुपात होता है जो चतुष्पद के तीन पैरों का उसके चार पैरों से होता है। तथापि पाद शब्द एक शब्दांक है जो भिन्न $\frac{1}{4}$ को सूचित करता है, और त्रिपाद शब्द की व्युत्पत्ति ठीक उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार अंगरेजी के शब्द 'थ्री-फोर्थस्' की।[5] शुल्ब ग्रंथों में एक अंशवाली भिन्नों को सूचित करने के लिए अंक-वाचक शब्द के साथ 'भाग' अथवा 'अंश' शब्द का प्रयोग किया गया है; उदाहरणतः पंचदश-भाग का अर्थ है $\frac{1}{15}$,[6] सप्तभाग का अर्थ है $\frac{1}{7}$,[7] इत्यादि। भाग अथवा

[1] **खोलासात** अल-हिसाब, ए० मारे कृत फ्रांसीसी अनुवाद, न्यू० अनाल्स मैथेमेटिक, जिल्द ५, १८४६, पृ० २६३।

[2] ऋग्वेद, १०. ९०. ४।

[3] ३. ७. ७।

[4] **बी० दत्त, शुल्ब, पृ० २१२ आदि।**

[5] **त्रि=तीन, और पाद=चतुर्थांश।**

[6] आपस्तम्ब शुल्ब, १०. ३; कात्यायन शुल्ब, ५. ८।

[7] **कात्यायन शुल्ब, ६.४।**

अंश के साथ क्रमसूचक संख्याओं का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है ; उदाहरणतः, पंचमभाग का अर्थ है $\frac{1}{5}$ ।[1] कभी-कभी, संभवतः छंद की सुविधा के लिए, भाग शब्द की उपेक्षा कर दी जाती है।[2] $\frac{3}{8}$ और $\frac{3}{28}$ यौगिक भिन्नों को क्रमशः त्रि-अष्टम (त्र्यष्टम) और द्वि-सप्त से व्यंजित किया गया है। बक्षाली हस्तलिपि में $\frac{3}{8}$ को त्र्यष्ट से और $3\frac{3}{8}$ को त्रयस्त्र्यष्ट से सूचित किया गया है।[3] उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर बने हुए भिन्न-सूचक शब्द परवर्ती ग्रंथों में इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते है कि उनको यहाँ उदाहृत करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव भिन्नों को व्यंजित करने की आधुनिक रीति हिन्दू स्रोतों के आधार पर व्युत्पन्न हुई है और इसके चिह्न ३००० ई० पू० तक दृष्टिगोचर होते है।

नाप और तौल

भिन्नात्मक राशियों के प्रयोग से बचने के लिए सभी सभ्य देशों में लंबाई, तौल और मुद्रा इत्यादि की इकाइयों को छोटी इकाइयो में विभाजित करने की सामान्य प्रथा है। इससे वाणिज्य की प्रगति तथा वाणिज्य संबंधी गणित की उन्नति का पता चलता है। हिन्दुओं ने नाप और तौल की पद्धतियों का प्रयोग प्राचीनतम काल से किया है। शतपथ ब्राह्मण[4] (ल० २००० ई० पू०) में काल-विभाग का अत्यंत सूक्ष्म वर्णन मिलता है। इसके अनुसार एक दिन मे ३० मुहूर्त होते हैं, एक मुहूर्त में १५ क्षिप्र होते हैं, एक क्षिप्र में १५ एतर्हि होते है, १ एतर्हि में १५ इदानीं होती हैं, और १ इदानीं में १५ प्राण होते है। इस प्रकार एक प्राण का मान लगभग $\frac{1}{67}$ सेकंड के बराबर हुआ। प्राचीन हिन्दुओ के पास समय के इतने सूक्ष्म विभागों को नापने के उपकरण होने की संभावना नहीं है। ये विभाग पूर्णतया सैद्धान्तिक है और इनका विकास दार्शनिक कारणों से हुआ। तथापि इससे प्रकट होता है कि प्राचीन काल में ही हिन्दुओं के पास भिन्न संबन्धी संतोषजनक अंकगणित अवश्य

[1] आपस्तम्ब शुल्ब, ६. ७; १०. २; कात्यायन शुल्ब, ५.६।

[2] १ अंशवाली भिन्नों में केवल हर का ही कथन किया गया है। यह प्रथा बाद के ग्रंथों में भी सामान्यरूप से मिलती है, उदाहरणार्थ, लीलावती, पृ० ७, में षष्ठ=$\frac{1}{6}$।

[3] बक्षाली हस्तलिपि, पत्र १०(ब)।

[4] १२. ३. २. १।

रहा होगा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] में एक प्रकरण ऐसा है जिसमें चौथी शताब्दी ई० पू० में भारतवर्ष में प्रयोग की जानेवाली नापों और तौलों का विवरण दिया गया है। ललितविस्तर[2] में बताया गया है कि बुद्ध ने निम्नलिखित रेखा मापों का उपदेश किया था।

७ परमाणु-रज	=	१ रेणु
७ रेणु	=	१ त्रुटि
७ त्रुटि	=	१ वातायन-रज
७ वातायन-रज	=	१ शश-रज
७ शश-रज	=	१ एडक-रज
७ एडक-रज	=	१ गोरज
७ गोरज	=	१ लिक्षा-रज
७ लिक्षा-रज	=	१ सर्षप
७ सर्षप	=	१ यव
७ यव	=	१ अंगुली-पर्व
१२ अंगुली पर्व	=	१ वितस्ति
२ वितस्ति	=	१ हस्त
४ हस्त	=	१ धनु
१००० धनु	=	१ क्रोश
४ क्रोश	=	१ योजन

उपर्युक्त सारिणी के अनुसार, लम्बाई की सबसे छोटी हिंदू माप एक परमाणु[3] है जो $१·३ \times ७^{-१०}$ इंच के बराबर है।

पाटीगणित-विषयक सब ग्रंथ, उन उन ग्रंथों में प्रयुक्त नाप और तौल की परिभाषाओं से आरम्भ होते हैं। पहले के ग्रंथों में वल्लीसवर्णन नामक एक

[1] दि अर्थशास्त्र ऑव कौटिल्य, आर० शाम शास्त्री द्वारा संपादित, बंगलौर, १९१९

[2] ललित विस्तर, आर० मित्र द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८७७, पृ० १६८।

[3] सबसे छोटे द्रव्याणु को परमाणु कहते हैं। अतएव हिन्दुओं के मत से एक का व्यास $१·३ \times ७^{-१०}$ होता है।

विशेष विषय मिलता है।[1] यह ध्यान देने योग्य है कि भिन्न-भिन्न ग्रंथों में वर्णित नाप और तौल की इकाइयाँ एक दूसरे से भिन्न है। ये वे इकाइयाँ हैं जो ग्रंथ रचे जाने के समय उस स्थान में प्रचलित थीं जहाँ ग्रंथ लिखा गया था।

परिभाषा

भिन्न शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'टूटा हुआ'। यूरोपीय शब्द 'फ्रैक्टिओ, 'फ्रैक्शन', 'राउण्ट', 'रोटो' और 'रोक्टो' इत्यादि 'भिन्न' शब्द के अनुवाद हैं, जो कि लेटिन शब्द 'फ्रैक्टस' (फ्रैन्जिएर) अथवा 'रुप्टस' (अर्थ 'टूटा हुआ') से व्युत्पन्न किये गये हैं। हिन्दू शब्द भिन्न का अधिक व्यापक अर्थ है क्योंकि

$$\left(\frac{अ}{ब}+\frac{स}{द}\right),\ \left(\frac{अ}{ब}\text{ का }\frac{स}{द}\right),\ \left(\frac{अ}{ब}+\frac{स}{द}\text{ का }\frac{अ}{ब}\right)\text{ अथवा }\left(अ+\frac{ब}{स}\right)$$

स्वरूप इसमें सम्मिलित है। इन स्वरूपों को 'जाति' कहते है और हिन्दू ग्रंथों में इनको सरल करने की विशेष विधियाँ मिलती है। श्रीधर और महावीर ने छः प्रकार की जातियों का वर्णन किया है, जबकि ब्रह्मगुप्त ने केवल पाँच जातियों की, तथा भास्कर द्वितीय ने, स्कन्दसेन का अनुसरण करके, केवल चार जातियों की कल्पना की है। भिन्नों को जातियों में विभाजन करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि गाणितिक परिकर्मों को सूचित करने के लिए उनके पास उपयुक्त चिह्न नहीं थे। हिन्दुओं ने केवल एक ही ऐसे चिह्न का प्रयोग किया है, और वह चिह्न है ऋणसूचक विन्दु।[2]

भिन्न के अर्थ में 'भाग' और 'अंश' शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। 'कला' शब्द जो वैदिक काल में $\frac{१}{३०}$ के लिए प्रयुक्त किया जाता था, बाद में भिन्न का पर्याय माना जाने लगा। भिन्न के अर्थ में इसका प्रयोग सर्वप्रथम शुल्ब-ग्रंथों में हुआ है।

[1] वल्ली-सवर्णन से तात्पर्य ऐसी क्रिया से है जो रुपया, आना, पाई को रुपये बनाने में प्रयुक्त की जाती है। वल्लीसवर्णन की विधि त्रिशतिका (पृ० १२) और गणिततिलक (पृ० ३९) में मिलती है। बाद के ग्रंथों में इस विधि का वर्णन नहीं है।

[2] जो साधारणतया घटाये जानेवाले अंक के ऊपर लिखा जाता था।

भिन्नों का लेखन

अत्यन्त प्राचीन काल से ही हिन्दू लोग भिन्नों को उसी प्रकार से लिखते आ रहे हैं, जैसे आजकल हम लोग लिखते है, परन्तु वे अंश और हर को विभाजित करने वाली रेखा का व्यवहार नहीं करते थे। जब कभी एक ही प्रश्न में बहुत सी भिन्नें होती थीं, तब वे उन्हें ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज रेखाओं द्वारा अलग कर देते थे। भिन्नों को लिखने की हिन्दू रीति के उदाहरण आगे दिये गये हैं।

भिन्नों का अपवर्तन

गाणितिक परिकर्म करने के पूर्व भिन्नों को अपवर्तित करना आवश्यक समझा जाता था। परन्तु अपवर्तन की क्रिया को परिकर्म नही माना जाता था। यह क्रिया गणित की पुस्तकों में नहीं मिलती, परन्तु सम्भवतः मौखिक रूप से इसका उपदेश किया जाता था। इसमें संदेह नहीं कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही यह नियम प्रचलित था, क्योंकि उमास्वातिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-भाष्य[1] में एक स्थान पर दार्शनिक विवेचन की व्याख्या करते समय दृष्टान्त रूप से इसकी चर्चा की गयी है :

"अथवा, जिस प्रकार, भिन्नों को सरल करते समय, कुशल गणितज्ञ द्वारा अंश और हर का अपवर्तन कर देने पर भी भिन्न के मान में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार.....।"

भिन्नों का समच्छेदीकरण[2] ('समहर करना')

समच्छेदीकरण की आवश्यकता तब पड़ती है जब भिन्नों को जोड़ना या घटाना होता है। इस क्रिया को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है और साधारणतया इसे संकलित और व्यवकलित के परिकर्मों के साथ-साथ बताया जाता है। ब्रह्मगुप्त[3] ने संकलित और व्यवकलित के परिकर्मों के साथ-साथ समच्छेदीकरण की विधि का निम्न प्रकार से कथन किया है :

"प्रत्येक (भिन्नात्मक) राशि के अंश और हर को अन्य (भिन्नात्मक) राशि के छेद से गुणा करो; तो वे दोनों (राशियाँ) समहर हो जायँगी। यदि उनको

[1] २.५२।

[2] **समच्छेदीकरण के अन्य पर्याय हैं—कलासवर्णन, सवर्णन, और समच्छेदविधि।**

[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पृ० १७२।

जोड़ना हो तो उनके अंशों को जोड़ दो, यदि घटाना हो तो उनके अंशों को घटा दो।"

श्रीधर का कथन है :[1]

"(भिन्नों को) समच्छेद करने के लिए प्रत्येक (भिन्न) के अंश और हर को अन्य (भिन्नों की) हरों से गुणा कर दो।"

अन्य ग्रंथों में भी यह नियम मिलता है।

मिश्र भिन्न

यह बतलाया जा चुका है कि परिकर्म-सूचक चिह्नों के अभाव के कारण हिन्दू गणितज्ञों ने भिन्नों को ४ जातियों में विभक्त किया है। वे जातियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) भागजाति[2], अर्थात् निम्न स्वरूप की भिन्नें : $\left(\frac{अ}{ब} \pm \frac{स}{द} \pm \frac{च}{छ} \pm \ldots.\right)$

जिसको लिखने की हिन्दू रीति यह है:

अ	स	च
ब	द	छ

अथवा

अ	·स	·च
ब	द	छ

यहाँ बिन्दु (·) ऋणसूचक चिह्न है।

(२) प्रभाग-जाति[3], अर्थात् निम्न स्वरूप की भिन्नें :

$\frac{अ}{ब}$ का $\frac{स}{द}$ का $\frac{च}{छ}$ का.....)

जिसे लिखने की हिन्दू रीति यह है:

अ	स	च
ब	द	छ

[1] त्रिशतिका, पृ० १०। के महोदय का अनुवाद अशुद्ध है।

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७५; त्रिशतिका, पृ० १०; गणित-सार-संग्रह, पृ० ३३ (श्लोक ५५, ५६); महासिद्धान्त, पृ० १४६; लीलावती, पृ० ६।

[3] त्रिशतिका, पृ० १०; गणित-सार-संग्रह, पृ० ३९ (श्लोक ९९); महासिद्धान्त, पृ० १४६; लीलावती, पृ० ६।

(३) भागानुबन्धजाति[1], अर्थात् निम्न स्वरूपों की भिन्नें:[2]

(१) $अ+\frac{ब}{स}$

(२) $\frac{प}{फ}+\frac{प}{फ}का\frac{द}{स}+\left(\frac{प}{फ}+\frac{प}{फ}का\frac{द}{स}\right)का\ \frac{त}{थ}+\ldots\ldots$

जिन्हें लिखने की हिन्दू रीति यह है:

(अ) $\begin{vmatrix} अ \\ ब \\ स \end{vmatrix}$ (ब) $\begin{vmatrix} प \\ फ \\ \hline द \\ स \\ \hline त \\ थ \end{vmatrix}$

(४) भागापवाह-जाति[3], अर्थात् निम्न स्वरूपों की भिन्नें:[4]

(अ) $\left(अ-\frac{ब}{स}\right)$

(ब) $\frac{प}{फ}-\frac{प}{फ}का\frac{द}{स}-\left(\frac{प}{फ}-\frac{प}{फ}का\frac{द}{स}\right)का\frac{त}{थ}-\ldots\ldots$

जिन्हें लिखने की हिन्दू रीति यह है —

(अ) $\begin{vmatrix} अ \\ ब \\ स \end{vmatrix}$ (ब) $\begin{vmatrix} प \\ फ \\ \hline द \\ स \\ \hline त \\ थ \end{vmatrix}$

[1] त्रिशतिका, पृ० १०; गणित-सार-संग्रह, पृ० ४१ (श्लोक ११३); महासिद्धान्त, पृ० १४८; लीलावती, पृ० ७।

[2] इन स्वरूपों को क्रमशः रूपभागानुबन्ध और भागभागानुबन्ध संज्ञाएँ दी गयी हैं।

[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७६; गणित-सार-संग्रह, पृ० ४३ (श्लोक १२६); महासिद्धान्त, पृ० १४८; लीलावती, पृ० ७।

[4] इन स्वरूपों को क्रमशः रूपभागापवाह और भागभागापवाह संज्ञाएँ दी गयी हैं।

श्रीधर और महावीर तथा कुछ अन्य गणितज्ञों ने उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो जातियाँ और दी हैं—

(५) भाग-भाग-जाति[1], अर्थात् निम्न स्वरूप की भिन्नें :

$$\left(अ \div \frac{ब}{स}\right) \text{ अथवा } \left(\frac{प}{फ} \div \frac{र}{स}\right)$$

भाग के परिकर्म को प्रदर्शित करने का कोई चिह्न न होने के कारण, इन भिन्नों को भी भागानुबन्ध-जाति की भिन्नों की भाँति ही लिखते थे;

यथा $\begin{vmatrix} अ \\ ब \\ स \end{vmatrix}$ अथवा $\begin{vmatrix} प \\ फ \\ \hline र \\ स \end{vmatrix}$

भाग इत्यादि क्रियाओं का ज्ञान प्रश्न से विदित किया जाता था[2]; उदाहरणतः, $१ \div \frac{१}{६}$ को षड्भागभाग[3] द्वारा सूचित करते थे, जिसका अर्थ है, 'भाग-भाग का छठवाँ भाग' अथवा "$\frac{१}{६}$ द्वारा विभाजित।"[4]

(६) भागमातृ-जाति[5], अर्थात् उपर्युक्त स्वरूपों के मिश्रण से उत्पन्न भिन्नें। महावीर ने लिखा है कि ऐसी भिन्नें २६ प्रकार की हो सकती है।[6] श्रीधर ने इस जाति के अन्तर्गत निम्नलिखित उदाहरण दिया है[7]:

[1] त्रिशतिका, पृ० ११; गणित-सार-संग्रह, पृ० ३९ (श्लोक ९९)।

[2] केवल बक्षाली हस्तलिपि में भाग दी जानेवाली राशि के बाद भागसूचक 'भा' अक्षर लिख दिया गया है।

[3] देखिए त्रिशतिका, पृ० ११।

[4] गणित-सार-संग्रह पृ० ४१ (श्लोक ११२) में $२ \div \frac{३}{५}$ को सूचित करने के लिए 'त्रिपादभक्तं द्विकम्' का प्रयोग किया गया है।

[5] त्रिशतिका, पृ० १२; गणित-सार-संग्रह, पृ० ४५ (श्लोक १३८)।

[6] महावीर ने भिन्न की केवल ५ प्रमुख जातियों की कल्पना की है, अतएव उनके अनुसार निम्न प्रकार की मिश्र भिन्नों की संख्या

$$^{५}स_{२} + {}^{५}स_{३} + {}^{५}स_{४} + {}^{५}स_{५} = २६$$

है।

[7] त्रिशतिका, पृ० १२।

'आधा, चौथाई का चौथाई, त्रिभागभाग, अपने आधे से युक्त आधा, और अपने आधे से रहित तृतीयांश को जोड़ने पर क्या धन होगा?"

आधुनिक संकेत में इसे इस प्रकार लिखा जायगा :

$\frac{1}{2}+(\frac{1}{4}$ का $\frac{1}{4})+(1\div\frac{3}{4})+(\frac{1}{2}+\frac{1}{2}$ का $\frac{1}{2})+(\frac{1}{2}-\frac{1}{2}$ का $\frac{1}{2})$

प्राचीन हिन्दू पद्धति के अनुसार यह इस प्रकार लिखा जाता था :

१	१	१	१	१	१
२	४	४	१	२	३
			३	१	१
				२	२

हिन्दू संकेत का अवगुण स्पष्ट है; क्योंकि $\begin{vmatrix}1&1\\4&4\end{vmatrix}$ को $\frac{1}{4}+\frac{1}{4}$ और $\begin{vmatrix}1\\1\\3\end{vmatrix}$ को $1\frac{1}{3}$ भी पढ सकते हैं। अतएव संकेत का यथार्थ अर्थ प्रश्न के संदर्भ से ही जाना जा सकत हैं।

पहली दो जातियों की भिन्नों को सरल करने के नियम वही हैं जो भिन्नों को जोड़ने, घटाने और गुणा करने के होते हैं। तीसरी और चौथी जातियों को सरल करने के नियम ब्रह्मगुप्त ने एक साथ दिया है :

"(नीचे के) छेद से (ऊपरवाले) छेद को गुणा करो, तथा अपने अंश से युक्त अथवा हीन (नीचेवाले) छेद से ऊपरवाले अंश को गुणा करो।"[1]

श्रीधर ने भागानुबन्ध जाति की भिन्नों को सरल करने के लिए निम्न नियम दिया है :[2]

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७६। $अ\pm\frac{ब}{अ}$ के सदृश भिन्नों को सरल करने की विधि अन्यत्र (पृ० १७३) दी गई है।

[2] त्रिशतिका, पृ० १०। नियम (१) $अ+\frac{ब}{स}$ के सदृश भिन्नों के लिए है तथा नियम (२) निम्न प्रकार की भिन्नों के लिए है:

$$\frac{अ}{ब}+\frac{अ}{ब}\text{ का }\frac{स}{द}+\left(\frac{अ}{ब}+\frac{अ}{ब}\text{ का }\frac{स}{द}\right)\text{ का }\frac{क}{ख}$$

(१) "भागानुबन्ध-जाति में पूर्णांक तथा छेद के गुणनफल में अंश को जोड़ना चाहिए।"

(२) "ऊपर के छेद को नीचे के छेद से गुणा करो; और ऊपर के अंश को, अपने अंश से युत (नीचे के) छेद से गुणा करो।"

अन्य लेखकों ने भी इसी प्रकार के नियम दिये हैं।

निम्नलिखित उदाहरण[1] से सरल करने की क्रिया का स्पष्टीकरण हो जायगा।

उदाहरण। $3\frac{1}{2}+3\frac{1}{3}$ का $\frac{1}{4}+(3\frac{1}{2}+3\frac{1}{3}$ का $\frac{1}{4})$ का $\frac{1}{2}+\frac{1}{3}+\frac{1}{2}$ का $\frac{1}{3}$ $+(\frac{1}{2}+\frac{1}{3}$ का $\frac{1}{3})$ का $\frac{1}{4}$

इसको निम्न प्रकार से लिखते थे—

३ १ २	१ २
१ ४	१ ३
१ ६	१ ४

सबसे ऊपर के कोष्ठ में नियम (१) का प्रयोग करने पर, तथा नीचे के कोष्ठों में, अंशों में हरों को जोड़ने पर, निम्नलिखित की प्राप्ति होती है:

७ २	१ २
५ ४	४ ३
७ ६	५ ४

अब नियमानुसार गुणन की क्रिया करने पर, अर्थात् सबसे ऊपर के कोष्ठ के हर को नीचे के सब हरों से, तथा अंश को नीचे के अंशों से गुणा करने पर निम्नलिखित की प्राप्ति होती है:

$\frac{७}{२}\times\frac{५}{४}\times\frac{७}{६}=\frac{३४५}{४८}$ और $\frac{१}{२}\times\frac{४}{३}\times\frac{५}{४}=\frac{३०}{२४}$

[1] त्रिशतिका, पृ० ११।

अर्थात्

२४५	२०
४८	२४

समच्छेद करने पर निम्नलिखित मिलता है:

२४५	४०
४८	४८

योग करने पर $\frac{२८५}{४८}$ अर्थात् $५\frac{१५}{४८}$ मिलता है, और यही इष्टफल है।

भागापवाह का नियम पाटीगणित के सब ग्रंथों में मिलता है। यह भागानुबन्ध के नियम के समान ही है, अन्तर केवल इतना है कि इसमें जोड़ने के स्थान पर घटाना पड़ता है।

निरुद्ध (अर्थात् लघुतम समापवर्त्य)

महावीर[1] पहले हिन्दू गणितज्ञ थे जिन्होंने क्रिया के लाघवार्थ निरुद्ध की कल्पना की। उन्होंने निरुद्ध की निम्न परिभाषा दी है:—

"छेदों के महत्तम समापवर्तक और (उससे भाग देने पर प्राप्त) लब्धियो का गुणनफल निरुद्ध कहलाता है।"

भिन्नो का समच्छेद करने के लिए उनका नियम इस प्रकार है:[2]

"निरुद्ध को हर से भाग देकर जो लब्धि प्राप्त हो उससे हर और अंश दोनों को गुणा करो। (ऐसा करने से सब भिन्नों का) एक हर हो जायगा।"

भास्कर द्वितीय[3] ने निरुद्ध की चर्चा नहीं की है परन्तु यह कहा है कि क्रिया का लाघव किया जा सकता है। उनका कथन है:

"बुद्धिमान् (गणक) को चाहिए कि (प्रत्येक भिन्न के) हर और अंश को दूसरे (भिन्न) के अपवर्तित हर से गुणा करे।"

परिकर्माष्टक

भिन्नों के परिकर्म भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से ज्ञात थे; उनको सरल करने की वही रीति थी जो आजकल प्रचलित है। यद्यपि आर्यभट प्रथम ने सरल

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३३ (श्लोक ५६)।
[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३३ (श्लोक ५६)।
[3] लीलावती, पृ० ६।

परिकर्मों का उल्लेख नहीं किया है, तो भी यह दिखाने के प्रमाण है कि किसी भिन्न से भाग करने में उसे उलट देने का नियम वे जानते थे। भिन्नों के सब परिकर्म बक्षाली हस्तलिपि में मिलते हैं।

संकलित और व्यवकलित

इन परिकर्मों को करने के पहले भिन्नों का समच्छेद करते थे। श्रीधर का कथन है :[1]

"भिन्नों का समच्छेद करके उनके अंशों को जोड़ लो। पूर्णांक का हर एक होता है।"

ब्रह्मगुप्त और महावीर ने इस नियम को भाग-जाति के अन्तर्गत दिया है। महावीर ने संकलित के अन्तर्गत चयश्रेढी (अर्थात् समान्तर श्रेढी) और गुणश्रेढी के योग करने के नियम दिये है, और इस बात में वे अन्य लेखकों से भिन्न हैं।[2] बाद के लेखकों ने श्रीधर का अनुकरण किया है।

गुणन

ब्रह्मगुप्त कहते है :[3]

"अंशों के गुणनफल को हरों के गुणनफल से भाग देना ही दो अथवा अधिक भिन्नों का गुणन है।"

अन्य लेखकों के नियम भी ब्रह्मगुप्त के नियम के अनुरूप हैं। परन्तु महावीर ने क्रिया-लाघव की दृष्टि से वज्रापवर्तन विधि का भी उल्लेख किया है :[4]

"भिन्नों का गुणन करने मे, पहले यदि संभव हो तो वज्रापवर्तन[5] कर लेने के बाद, अंशों को अंशों से और हरों को हरों से गुणा करना चाहिए।"

[1] त्रिशतिका, पृ० ७।
[2] **देखिए** गणित-सार-संग्रह, पृ० २८ (**श्लोक** २२) आदि।
[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७३।
[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० २४५ (**श्लोक** २)।
[5] **वज्रापवर्तन-विधि के अनुसार**

$$\frac{३}{१} \times \frac{६}{४} = \begin{matrix} १ \not{३} & \not{६}\ २ \\ १\ \not{३} & \not{४}\ २ \end{matrix} = \frac{३}{२} = १।$$

भाग

आर्यभटीय में यद्यपि प्रारम्भिक परिकर्मों की चर्चा नहीं है तो भी त्रैराशिक के नियम के अन्तर्गत भिन्न के भाग करने की विधि का संकेत है। त्रैराशिक में इच्छा-फल के लिए निम्नलिखित सूत्र है :

$$\text{इच्छाफल} = \frac{\text{फल} \times \text{इच्छा}}{\text{प्रमाण}}$$

जब ये राशियाँ भिन्नात्मक होती है तब हमें इस प्रकार का इच्छाफल मिलता है :

$$\frac{\frac{\text{अ}}{\text{ब}} \times \frac{\text{स}}{\text{द}}}{\frac{\text{क}}{\text{ख}}}$$

जिसको सरल करने के लिए आर्यभट ने निम्न नियम दिया है:

"गुणकार और भागहार (के अंशों) को एक दूसरे के हरों से गुणा करना चाहिए।"[1]

जैसा आगे चलकर बतलाया जायगा, उपर्युक्त राशियों को निम्न प्रकार से लिखते है :

अ ब	क ख
स द	

हरों का पक्ष परिवर्तन करने पर हमे मिलता है :

अ ख स	क ब द

गुणन करने पर, $\frac{\text{अ ख स}}{\text{क ब द}}$ प्राप्त होता है।

[1] आर्यभटीय, पृ० ४३। परमेश्वर की टीका के अस्पष्ट होने के कारण पहले के लेखकों को कुछ भ्रम सा हो गया है। देखो क्लार्क (पृ० ४०) और सेनगुप्त (पृ० २५)।

आर्यभटीय का उपर्युक्त नियम टीकाकार सूर्यदेव और भास्कर प्रथम द्वारा दी गई व्याख्या के आधार पर है। सूर्यदेव का कथन है :

"यहाँ पर 'गुणकार' का अर्थ है गुणक और गुण्य, अर्थात् फल और इच्छा-राशियों को आपस में गुणा करना चाहिए। 'भागहार' का अर्थ है प्रमाण-राशि। फल और इच्छा के हरों को प्रमाण के साथ लिया गया है। और प्रमाण के हर को फल और इच्छा के साथ लिया गया है। इनको गुणा करने पर, अर्थात् फल और इच्छा (के अंशों) तथा इस हर को, और उसे (अर्थात् उस गुणनफल को) प्रमाण के साथ स्थित अंकों (के गुणनफल) से भाग देने पर, जो आता है वही इष्ट भिन्नों का भागफल होता है।"

ब्रह्मगुप्त[1] ने भाग करने की रीति को इस प्रकार दिया है :

"भागहार के अंश और हर का परस्पर स्थान परिवर्तन करने के बाद, भाज्य के अंश को (भागहार के नये) अंश से और भाज्य के हर को (भागहार के नये) हर से गुणा करो; इस प्रकार दो सवर्णित भिन्नों का भाग किया जाता है।"

श्रीधर[2] ने गुणन की विधि के साथ-साथ निम्न नियम भी जोड़ दिया है :

"भागहार के अंश और हरों के परस्पर स्थान-परिवर्तन करने के बाद पूर्ववत् क्रिया, अर्थात् गुणन, करना चाहिए।

महावीर[3] ने उसी नियम को इस प्रकार व्यक्त किया है :

"भागहार[4] के अंश को उसका हर (और हर को अंश) मानकर, वही क्रिया करनी चाहिए जो गुणन के लिए कही गई है।"

"अथवा[5], भागहार और भाज्य (के अंशों) को एक दूसरे के हरों से गुणा कर देने पर जब (दोनों) गुणनफल छेद रहित हो जायँ, तब वह क्रिया करनी चाहिए जो पूर्ण संख्याओं[6] का भाग करने में कही गई है।"

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पृ० १७३।
[2] त्रिशतिका पृ० ८।
[3] गणित-सार-संग्रह पृ० २६ (श्लोक ८)।
[4] महावीर ने भागहार के लिए 'प्रमाण राशि' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे इस नियम का त्रैराशिक से सम्बन्ध प्रदर्शित होता है।
[5] इस नियम का कथन आर्यभट के नियम के सदृश है।
[6] मूल में 'सकल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

वर्ग और वर्गमूल

ब्रह्मगुप्त[1] कहते हैं :

"सवर्णित भिन्न के अंश के वर्ग को हर के वर्ग से भाग देने पर (भिन्न का) वर्ग हो जाता है।"

"सवर्णित भिन्न के अंश के मूल को हर के मूल से भाग देने पर (भिन्न का) वर्गमूल हो जाता है।"

अन्य ग्रन्थकारों ने भी यही नियम दिये हैं।

घन और घनमूल

श्रीधर[2] ने निम्नलिखित नियम दिया है :

"अंश के घन को हर के घन से भाग देन पर (भिन्न का) घन मिलता है; और अंश के घनमूल को हर के घनमूल से भाग देने पर (भिन्न का) घनमूल मिलता है।"

अन्य लेखकों ने भी यही नियम दिये हैं।

एकांशक भिन्न[3]

महावीर ने किसी दी हुई भिन्न को एक से अधिक एकांशक भिन्नों के जोड़ के रूप में परिवर्तित करने के बहुत से नियम दिये हैं। ये नियम नारायण की 'गणित कौमुदी' को छोड़कर अन्य किसी ग्रंथ में नहीं मिलते, संभवतः इसलिए कि वे महत्त्वहीन अथवा अनावश्यक समझे गये थे।

(१) १ को 'न' एकांशक-भिन्नों के जोड़ के रूप में व्यक्त करना।

इसके लिये यह नियम है :[4]

"बहुत सी एकांशक भिन्नों का योगफल १ होने पर, उन भिन्नों की हरें १ से आरम्भ होकर क्रमशः ३ के अनुपात में बढ़ने वाली संख्याएँ होंगी, जिनमें से प्रथम और अन्तिम हरें क्रमशः २ और $\frac{3}{2}$ से भी गुणित होंगी।"

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७४।

[2] त्रिशतिका, पृ० ६।

[3] एकांशक भिन्न वे हैं जिनके अंश में १ होता है। संस्कृत में इसके लिए कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है। महावीर ने ऐसी भिन्नों के लिए 'रूपांशक राशि' का प्रयोग किया है।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७५)।

बीजतः नियम यह है :

$$१ = \frac{१}{२} + \frac{१}{३} + \frac{१}{३^{२}} + \cdots + \frac{१}{३^{\text{न}-२}} + \frac{१}{२.३^{\text{न}-२}}$$

(२) १ को एकांशक भिन्नों की विषम संख्या के जोड़ के रूप में व्यक्त करना। इसके लिए यह नियम बताया गया है :[१]

"जब एकांशक भिन्नों का योगफल १ होता है, तब उन (भिन्नों) की हरें २ से आरम्भ होकर एक एक करके बढ़नेवाली संख्यायें होती हैं, जो अपने आगे वाली संख्या तथा $\frac{१}{२}$ से गुणित होती हैं।"

अर्थात्

$$१ = \frac{१}{२.३.\frac{१}{२}} + \frac{१}{३.४.\frac{१}{२}} + \frac{१}{४.५.\frac{१}{२}} + \cdots + \frac{१}{(२\text{न}-१).२\text{न}.\frac{१}{२}} + \frac{१}{२\text{न}.\frac{१}{२}}$$

(३) किसी दी हुई एकाशक भिन्न को अनेक भिन्नों के योग के रूप में व्यजित करना, जबकि प्रत्येक के अश दिये हुए है।

इसके लिए निम्नलिखित नियम है :[२]

"(कई भिन्नो का) योग एकांशक भिन्न होने पर, उस एकाशक भिन्न का हर पहली भिन्न का (आंशिक) हर होता है; उस (आंशिक) हर मे अपने अंश को जोड़ देने पर जो मिलता है वह दूसरी भिन्न का (आंशिक) हर होता है (इत्यादि)। प्रत्येक (आशिक हर) को अगली (आशिक) हर से तथा अन्तिम (आंशिक हर) को अपने अंश से गुणा करने पर (उन भिन्नों के वास्तविक हरों की प्राप्ति होती है)।"

अर्थात्

$$\frac{१}{\text{न}} = \frac{\text{अ}_{१}}{\text{न}(\text{न}+\text{अ}_{१})} + \frac{\text{अ}_{२}}{(\text{न}+\text{अ}_{१})(\text{न}+\text{अ}_{१}+\text{अ}_{२})} + \cdots\cdots + \frac{\text{अ}_{\text{र}-१}}{(\text{न}+\text{अ}_{१}+\cdots+\text{अ}_{\text{र}-२})(\text{न}+\text{अ}_{१}+\cdots+\text{अ}_{\text{र}-१})} + \frac{\text{अ}_{\text{र}}}{\text{अ}_{\text{र}}(\text{न}+\text{अ}_{१}+\cdots+\text{अ}_{\text{र}-१})}$$

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७७)।
[२] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७८)।

यदि हम $अ_१ = अ_२ = \cdots = अ_र = १$ लें, तो सब भिन्नें एकांशक हो जायँगी। परन्तु यदि $अ_१, अ_२$, इत्यादि १ से भिन्न ली जायँ तो आवश्यक नहीं है कि सब भिन्नें अपने लघुरूप में हों।

(४) किसी दी हुई भिन्न को एकांशक भिन्नों के योग के रूप में व्यंजित करना।

इसके लिए यह नियम है :[१]

"(दी हुई भिन्न के) हर में किसी ऐसी (कल्पित) संख्या को जोड दो कि योग-फल को अपने अंश से भाग देने पर शेष न बचे। (इस प्रकार) भाग देने से प्राप्त लब्धि पहले भिन्न की हर है; और इस हर तथा दी हुई (भिन्न की) हर द्वारा भाग की हुई कल्पित सख्या, शेष है। इस शेष पर से वही क्रिया करने पर अन्य भिन्नों की हरें प्राप्त होंगी।"

मान लो कि दी हुई भिन्न $\frac{क}{ख}$ है। यदि 'इ' ऐसी संख्या हो कि $\frac{ख+इ}{क}$ पूर्ण संख्या 'र' के तुल्य है, तो उपर्युक्त नियम के अनुसार

$$\frac{क}{ख} = \frac{१}{र} + \frac{इ}{र\,ख},$$

जिनमें से पहली भिन्न इष्ट एकाशक भिन्न है; अन्य एकाशक भिन्नो को ज्ञात करने के लिए दूसरी भिन्न पर वही क्रिया करनी चाहिए।

उपर्युक्त नियम के अनुसार प्राप्त की गयी भिन्नें कल्पित सख्याओं पर निर्भर रहेगी।

(५) किसी दी हुई एकांशक भिन्न को दो अन्य एकांशक भिन्नों के योग के रूप मे व्यंजित करना।

इसके लिए निम्नलिखित दो नियम दिये गये है :[२]

"(१) दी हुई भिन्न की हर को उपयुक्त[३] कल्पित संख्या से गुणा करने पर पहली (एकाशक) भिन्न का हर मिलता है, और उसे एकोन कल्पित संख्या से भाग करने पर दूसरी का (हर मिलता है)। अथवा (२) दी हुई भिन्न की

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३७ (श्लोक ८०)।

[२] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३७ (श्लोक ८५)।

[३] कल्पित संख्या ऐसी होनी चाहिए कि एकोन कल्पित संख्या से दी हुई भिन्न के हर का निःशेष भाग हो जाय।

हर के (निःशेष) भाजक तथा प्राप्त लब्धि को (अलग अलग) उनके योग से गुणा करने पर दोनों (एकांशक भिन्नों की) हरें प्राप्त होती हैं।"

(६) किसी दी हुई भिन्न को दो अन्य भिन्नों के योग के रूप में व्यंजित करना, जबकि उन दो भिन्नों के अंश दिये हुये है।

इसके लिए यह नियम है :[1]

"(पहली भिन्न के) अंश को किसी उपयुक्त कल्पित संख्या से गुणा करके उस गुणनफल में दूसरी भिन्न के अंश को जोड़ दो, और जोड़ की भिन्न के अंश से निःशेष भाग कर दो। लब्धि को कल्पित संख्या से भाग करो और (लब्धि-स्वरूप) जो आवे उसे जोड़ की भिन्न की हर से गुणा करो इस प्रकार जो मिलेगा वह (पहली भिन्न का) हर है। उसे कल्पित संख्या से गुणा करने पर जो मिलेगा वह दूसरी भिन्न का हर है।"[2]

अर्थात्

$$\frac{म}{न} = \frac{क}{\frac{क र + ख}{म} \times \frac{न}{र}} + \frac{ख}{\frac{क र + ख}{म} \times \frac{न}{र} \times र}$$

इसका एक विशिष्ट रूप यह है:

$$\frac{म}{न} = \frac{क}{\frac{क न + ख}{म}} + \frac{ख}{\frac{क न + ख}{म} \times न},$$

यदि (कन+ख) को म से भाग देने पर शेष न बचे।

(७) किसी दी हुई भिन्न को भिन्नों की समसंख्या के योग के रूप में व्यंजित करना, जबकि उन भिन्नों के अंश दिये हुये हैं।

इसके लिए यह नियम है :[3]

"दी हुई भिन्न को (पहले) उतनी एकांशक भिन्नों के योग के रूप में रक्खो जितने कि इष्ट भिन्नों के जोड़े हैं। फिर उन एकांशक भिन्नों से 'दी हुई भिन्न

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३८ (श्लोक ८७)।
[2] कल्पित संख्या ऐसी होनी चाहिए कि दोनों भाग निःशेष हों।
[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३८ (श्लोक ८९)।

को दो भिन्नों के योग में रूपान्तरित करने की विधि से' इष्ट भिन्नों के हरों का साधन करो।"

१२. त्रैराशिक

परिभाषा

त्रैराशिक शब्द ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों से देखने में आता है। इसका प्रयोग बक्षाली हस्तलिपि,[१] आर्यभटीय, तथा गणित के अन्य सभी ग्रंथों में मिलता है। त्रैराशिक शब्द का अर्थ है 'तीन राशियाँ' अर्थात् 'तीन राशियों से सम्बन्ध रखनेवाला नियम'। इस शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भास्कर प्रथम[२] ने कहा है: "क्योंकि इसमें (न्यास और करण के लिए) तीन राशियों की आवश्यकता पड़ती है, अतएव यह नियम त्रैराशिक ('तीन राशियों का नियम') कहलाता है।"

त्रैराशिक के प्रश्न का स्वरूप निम्न प्रकार का होता है:

यदि 'प्र' में 'फ' मिलता है, तो 'इ' में क्या मिलेगा?

यहाँ पर तीन राशियाँ है 'प्र', 'फ' और 'इ'। हिन्दू गणितज्ञ 'प्र' को प्रमाण, 'फ' को फल, और 'इ' को इच्छा कहते हैं। ये नाम हिन्दू गणित के सब ग्रंथों में मिलते है। कभी कभी इन्हें 'प्रथम', 'द्वितीय' और 'तृतीय' (राशि) भी कहा गया है। आर्यभट द्वितीय की संज्ञायें कुछ भिन्न हैं, क्योंकि उन्होंने 'प्र', 'फ' और 'इ' को क्रमानुसार 'मान', 'विनिमय' और 'इच्छा' कहा है। सभी गणितज्ञों ने लिखा है कि प्रथम और तृतीय राशियाँ सदृश, अर्थात् एक जाति की, होती हैं।"

करण

आर्यभट प्रथम ने त्रैराशिक के प्रश्नो को हल करने के लिए निम्नलिखित नियम दिया है:

"त्रैराशिक (के प्रश्नों) में फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करना चाहिए

[१] स्थानांग सूत्र (ल० ३०० ई० पू०) में विषयों की गणना करने में राशि शब्द का प्रयोग आया है (देखिए सूत्र ७४७)। कदाचित् वहाँ पर इस शब्द से त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक इत्यादि से तात्पर्य है।

[२] अपने आर्यभटीय-भाष्य में।

और प्राप्त गुणनफल को प्रमाणराशि से भाग देना चाहिए। इस प्रकार भाग करने से जो लब्धि प्राप्त होती है वही इच्छाफल है।"[१]

"गुणक और भागहार के (अंशों और) हरों को एक दूसरे से गुणा करना चाहिए।"

ब्रह्मगुप्त का नियम इस प्रकार है :

"त्रैराशिक में प्रमाण, फल और इच्छा (नाम की तीन) राशियाँ होती है जिनमें से पहली और अंतिम राशियाँ एक जाति की होती है। इच्छा को फल से गुणा करने पर और उस गुणनफल को प्रमाण से भाग देने पर (इच्छा) फल मिलता है।"[२]

श्रीधर कहते है :

"(त्रैराशिक की) तीन राशियों में से प्रमाण और इच्छा, जो एक जाति की है, आदि और अन्त की है; फल राशि, जो अन्य जाति की है, मध्य की है। मध्य और अन्तिम के गुणनफल को आदि से भाग देना चाहिए।"[३]

महावीर लिखते है :

"त्रैराशिक में जब इच्छा और प्रमाण एक जाति के होते है, तब फल और इच्छा के गुणनफल को प्रमाण से भाग करने पर इच्छाफल मिलता है।"[४]

आर्यभट द्वितीय की पारिभाषिक शब्दावली में कुछ अन्तर है। उनका कथन है :

"पहली राशि को 'मान' कहते हैं, मध्य राशि को 'विनिमय' कहते है, और अन्तिम राशि को 'इच्छा' कहते है। पहली और अंतिम राशियाँ एक जाति की होती है। 'मध्य' राशि को 'अन्तिम' राशि से गुणा करके गुणनफल को 'पहली' राशि से भाग देने पर (इच्छा)फल मिलता है।"[५]

भास्कर द्वितीय, नारायण और अन्य लेखकों द्वारा दिये गये नियम ब्रह्मगुप्त और श्रीपति के नियमों के अनुरूप हैं।

[१] आर्यभटीय, गणितपाद, आर्या २७ (पूर्वार्ध)। उदाहरण १ को देखिए जिसमें हरों का आपस में परिवर्तन किया गया है। पृ० १८५ आदि भी देखिए।

[२] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७८।

[३] त्रिशतिका, पृ० १५।

[४] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५८ (२)।

[५] महा-सिद्धान्त, पृ० १४६।

नीचे हम श्रीधर की त्रिशतिका से दो उदाहरण उद्धृत कर रहे हैं जिनसे त्रैराशिक की भारतीय करणविधि स्पष्ट हो जायगी:

उदाहरण १. यदि एक पल और एक कर्ष चन्दन की लकड़ी १० पण में प्राप्त होती है, तो नौ पल और एक कर्ष (चन्दन की लकड़ी) कितने में प्राप्त होगी?[1]

यहाँ पर १ पल और १ कर्ष (= $1\frac{1}{4}$ पल) प्रमाण है, $10\frac{1}{2}$ पण फल है, और ९ पल और एक कर्ष (= $9\frac{1}{4}$ पल) इच्छा है। इन राशियों को निम्न प्रकार से लिखते हैं:

१	१०	९
१	१	१
४	२	४

भिन्नो का सवर्णन करने पर, हमें यह मिलता है

५	२१	३७
४	२	४

द्वितीय और तृतीय राशियो को गुणा करने पर, और प्रथम राशि से भाग देने पर, हमें यह मिलता है

२१	५
२	४
३७	
४	

$$\equiv \frac{\frac{२१}{२} \times \frac{३७}{४}}{\frac{५}{४}}$$

हरों का कोष्ठ परिवर्तन करने पर हमें यह मिलता है:

२१	५
४	२
३७	४

$$\equiv \frac{२१ \times ४ \times ३७}{५ \times २ \times ४} \text{ पण}$$

=४ पुराण, १३ पण, २ काकिणी, और १६ वराटक।

वास्तविक गणना में बीच का पद

$$\frac{\frac{२१}{२} \times \frac{३७}{४}}{\frac{५}{४}}$$

[1] त्रिशतिका, पृ० १५।

नहीं लिखा जाता था। गुणकों के हरों को भाजक की ओर और भाजक के हर को गुणकों की ओर स्थानान्तरित कर देते थे, और इस प्रकार तुरन्त ही

$$\frac{२१ \times ४ \times ३७}{५ \times २ \times ४}$$

मिल जाता था।

उदाहरण २. आठ आठ मुक्ताओं वाले हारों में से छः छः मुक्ताओं वाले कितने हार बन सकते हैं?[१]

यहाँ पर पहले यह त्रैराशिक हल करते है: यदि १ हार में ८ मुक्ता हैं तो २० हारों में कितनी मुक्ता होंगी? अतएव इन राशियों को क्रम से इस प्रकार लिखते है

१	८	२०

त्रैराशिक का नियम लगाने पर, मुक्ताओं की संख्या १६० आती है।

अब त्रैराशिक यह है: यदि ६ मुक्ताओं का एक हार है, तो १६० मुक्ताओं में उस प्रकार के कितने हार होंगे? अतएव इन राशियों को क्रमानुसार इस प्रकार लिखते हैं:

६	१	१६०

त्रैराशिक का नियम लगाने पर, हारों की निम्न संख्या आती है: हार २६, हारांश $\frac{२}{३}$

व्यस्त त्रैराशिक

त्रैराशिक का नियम बतलाने के बाद हिन्दू लेखकों ने लिखा है कि जब अनुपात व्यस्त हो तब त्रैराशिक की क्रिया व्यस्त रीति से करनी चाहिए। इस प्रकार श्रीधर लिखते हैं:

"त्रैराशिक व्यस्त होने पर मध्य-राशि को प्रथम राशि से गुणा करके अन्तिम राशि से भाग देना चाहिए।"[२]

[१] त्रिशतिका, पृ० १७।
[२] त्रिशतिका, पृ० १८।

महावीर कहते हैं:

"व्यस्त (त्रैराशिक) में विपरीत क्रिया करनी चाहिए।"[1]

भास्कर द्वितीय लिखते हैं:

"विलोम (त्रैराशिक) में व्यस्त क्रिया करनी चाहिए।"[2]

उन्होंने यह भी लिखा है:

"जब इच्छा की वृद्धि होने पर फल का ह्रास हो तथा इच्छा के ह्रास होने पर फल की वृद्धि हो, तब गणितकोविदों को समझना चाहिए कि त्रैराशिक व्यस्त है।"[3]

"जीवित प्राणियों की उम्र से उनका मूल्य निर्द्धारण करने में, सुवर्ण के वर्ण से तौल निर्द्धारण करने में, तथा राशियों के भागीकरण में[4] व्यस्त त्रैराशिक होता है।"[5]

त्रैराशिक के अन्तर्गत दिये हुये उदाहरण २ को व्यस्त त्रैराशिक के नियम से भी हल किया गया है; यथा

"न्यास | ८ | २० | ६ | । फल— हार | २६ / २ / ३ |।"

यहाँ पर त्रैराशिक व्यस्त है, क्योंकि जब इच्छा राशि (अर्थात् हार की मुक्ताओं की संख्या) बढ़ती है, तब फल (अर्थात् हारों की संख्या) घटती है।

त्रैराशिक की प्रशंसा

त्रैराशिक की सरलता तथा साधारण प्रश्नों में उसके प्रयोग की व्यापकता के कारण हिन्दुओ ने इसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। हिन्दुओं द्वारा बनाया हुआ त्रैराशिक का नियम इतना सीधा है कि अपढ़ व्यक्ति भी प्रश्नों को हल करने में निडर होकर इसका प्रयोग कर सकते हैं। वराहमिहिर ने लिखा है:

"यदि सूर्य एक वर्ष में पृथ्वी की एक परिक्रमा करता है तो इष्ट दिनों में

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५८ (श्लोक २)।
[2] लीलावती, पृ० १७।
[3] लीलावती, पृ० १७।
[4] 'अनाज की राशियाँ', जो छोटे परिमाण से नापी जा चुकी हैं, पुनः बड़े परिमाण से नापी जाती हैं, तब माप-संख्या घट जाती है।' (सूर्यदास की टीका)
[5] लीलावती, पृ० १८।

कितनी परिक्रमाएँ करेगा? इस प्रकार की सूर्य-संबन्धी गणना को क्या अज्ञ व्यक्ति खड़िया से रेखाएँ खींचकर नहीं कर सकता?"

भास्कर द्वितीय ने अपने ग्रंथों में अनेकों स्थलों पर त्रैराशिक के नियम की प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है:

"जिस प्रकार यह जगत्, जन्म-मरण के क्लेशों को हरने वाले तथा निखिल जगत् की सृष्टि के एकमात्र कारण, भगवान् श्रीनारायण के समस्त भुवन, भावन, पर्वत, नदी, सुर, नर और असुर इत्यादिक भेदों से व्याप्त है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण गणित त्रैराशिक से व्याप्त है।"

"बीजगणित में अथवा यहाँ पर (अंकगणित में) गुणन और भाग की विधि से जो कुछ भी गणना की जाती है, उसे निर्मलबुद्धि वालों को त्रैराशिक ही समझना चाहिए। प्रज्ञ विद्वानों ने इसी के भिन्न भिन्न भेदों को सुगम करके तथा प्रकीर्णादिक नाम देकर जो कुछ रचना की है वह केवल हम लोगों के सदृश मन्दबुद्धि वालों की बुद्धि को बढ़ाने के हेतु है।"[१]

अन्य स्थान पर भास्कर द्वितीय कहते है:

"वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल के अतिरिक्त जो कुछ गणना की जाती है वह सब त्रैराशिक का भिन्न भिन्न रूप है, कोई दूसरी वस्तु नहीं।"[२]

पश्चिम के देशों में त्रैराशिक

त्रैराशिक सम्बन्धी हिन्दू नियमों के इतिहास से विदित होता है कि पश्चिम के लोग गणित के क्षेत्र में भारतवर्ष के कितने ऋणी है। त्रैराशिक का नियम अरब तथा मध्यकालीन लेटिन लेखकों के ग्रंथों में मिलता है। इन ग्रंथों में भारतीय नाम 'त्रैराशिक' को ग्रहण किया गया है। यद्यपि राशियों के भारतीय नामों का परित्याग किया गया है, तो भी राशियों को एक पंक्ति में लिखने तथा उन्हें इस प्रकार क्रमबद्ध करने की परिपाटी का कि प्रथम और अंतिम राशियाँ एक जाति की हों ग्रहण किया गया है। इस प्रकार डिग्गेस (१५७२ ई०) कहते हैं[३] कि ".....अन्तिम संख्या को दूसरी से गुणा

[१] लीलावती, पृ० ७६।
[२] सिद्धान्त-शिरोमणि, गोलाध्याय, प्रश्नाध्याय, श्लोक ४।
[३] स्मिथ (पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ४८८) द्वारा उद्धृत।

करो और गुणनफल को पहली संख्या से भाग दो।".... "संख्याओं को स्थापन करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रथम और अंतिम संख्याएँ एक जाति की हों।" त्रैराशिक का नियम, जैसा पहले कहा जा चुका है, ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में बना था। अरब में यह नियम सभवतः आठवीं शताब्दी में पहुँचा और वहाँ से इसका पदार्पण यूरोप मे हुआ जहाँ पर इसकी अत्यधिक प्रशंसा हुई[१] और इसे 'स्वर्ण नियम' की उपाधि से विभूषित किया गया।

मिश्रानुपात

मिश्रानुपात को भारतीय गणित में, प्रश्न में प्रयुक्त राशियों की सख्या के अनुसार, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक इत्यादि संज्ञाएँ दी गई है, जो कि कभी कभी-'बहुराशिक'-संज्ञक सामान्य शीर्षक के अंतर्गत वर्गीकृत किये गये हैं। आर्यभट प्रथम ने यद्यपि केवल त्रैराशिक के नियम का ही कथन किया है, तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पारिभाषिक सज्ञाएँ और तत्संबंधी नियम उनके समय में सुविख्यात थे। भास्कर प्रथम ने अपने आर्यभटीय-भाष्य में जोर देकर लिखा है कि त्रैराशिक और मिश्रानुपात का भेद वास्तविक होने की अपेक्षा बनावटी अधिक है। वे कहते है:

"आचार्य आर्यभट ने तो यहाँ पर केवल त्रैराशिक का वर्णन किया है, पंचराशिक इत्यादि अनुपातविशेषों का ज्ञान कैसे किया जायगा? (समाधान में) कहते हैं— आचार्य ने अनुपात के सिद्धान्त का उपदेश किया है; और अनुपात के सिद्धान्त की सहायता से पंचराशिक इत्यादि सब सिद्ध हो जाते है। कैसे? क्योंकि पंचराशिक इत्यादि त्रैराशिकों के समूह है। पञ्चराशिक इत्यादि त्रैराशिकों के समूह किस प्रकार है? (क्योंकि) पंचराशिक में दो त्रैराशिक मिले है, सप्तराशिक में तीन त्रैराशिक मिले हैं, नवराशिक में चार त्रैराशिक मिले है, इत्यादि। इसका स्पष्टीकरण उदाहरणों में किया जायगा।"[२]

[१] अरबों ने भी इस नियम को बड़ा महत्त्व दिया था, जो कि अलबेरूनी द्वारा 'फी राशिकात अल-हिन्द' ('हिन्दुओं के राशिक') नाम के स्वतन्त्र ग्रंथ की लिखने से प्रकट होता है। इस ग्रंथ में हिन्दुओं के त्रैराशिक तथा बहुराशिक के नियमों का वर्णन है। अलबेरूनी कृत इंडिया (भाग १, पृ० ३१३) को भी देखिए जिसमें व्यस्त त्रैराशिक का एक उदाहरण दिया गया है।

[२] देखिए गणितपाद, श्लोक २६-२७ (पूर्वार्ध) की व्याख्या।

पञ्चराशिक, सप्तराशिक, इत्यादि के सम्बन्ध में इसी प्रकार के कथन लीलावती के टीकाकारों, विशेषकर गणेशदैवज्ञ और सूर्यदास, ने भी किये हैं।[1]

मिश्रानुपात के प्रश्नों में राशियों के दो समूह दिये रहते हैं। पहिला समूह जिसमें सब राशियाँ रहती हैं, प्रमाण पक्ष कहलाता है; दूसरा समूह जिसमें एक राशि अज्ञात होती है, इच्छा पक्ष कहलाता है।

विधि

मिश्रानुपात के प्रश्नों को हल करने के लिए ब्रह्मगुप्त ने निम्न नियम दिया है:

"त्रैराशिक से लेकर[2] एकादश राशिक तक में फलों को एक पक्ष से दूसरे पक्ष में ले जाने के बाद, अधिक राशियों वाले पक्ष के गुणनफल को कम राशियों वाले पक्ष के गुणनफल से भाग करने पर (इष्ट) फल की प्राप्ति होती है। दोनों पक्षों के सब भिन्नों के हरों का भी इसी प्रकार पक्षपरिवर्तन कर लेना चाहिए।"[3]

श्रीधर कहते हैं:

"फल को एक पक्ष से दूसरे पक्ष में ले जाओ और (तब सब भिन्नों के) हरों का पक्ष परिवर्तन करो। इसके बाद दोनों पक्षों की राशियों को (अलग अलग) गुणा करो, और अधिक राशियों वाले पक्ष के गुणनफल को दूसरे पक्ष की राशियों के गुणनफल से भाग दे दो। (प्राप्त लब्धि इष्ट फल है)।"[4]

महावीर[5] और आर्यभट द्वितीय[6] के नियम श्रीधर के नियम के अनुरूप हैं। भास्कर द्वितीय का नियम इस प्रकार है:

[1] यह बात कोलब्रुक ने लिखी है। देखिए पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ३५, टिप्पणी।

[2] यह ध्यान देने योग्य है कि, जैसा कहा जा चुका है, त्रैराशिक का नियम बहुराशिक के नियम का ही एक विशिष्ट स्वरूप है। केवल ब्रह्मगुप्त ही एक ऐसे हिन्दू लेखक हैं जिन्होंने त्रैराशिक को भी उपर्युक्त नियम में सम्मिलित कर लिया है। कुछ अरबी लेखकों ने भी इस बात में उनका अनुकरण किया है और त्रैराशिक की राशियों को एक पंक्ति में न लिखकर बहुराशिक के नियम के अनुसार उन्हें कोष्ठों में क्रमबद्ध किया है।

[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७८।

[4] त्रिशतिका, पृ० १६।

[5] गणित-सार-संग्रह, पृ० ६२ (श्लोक ३२)।

[6] महासिद्धान्त, पृ० १५०, नियम २६ और २७ (कुछ अन्तर के साथ पुनरावृत्त)।

"पञ्चराशिक, सप्तराशिक, और नवराशिक इत्यादि में फल और (उसके बाद) हरों (छिद्[1]) को एक पक्ष से दूसरे में ले जाकर, अधिक राशियों वाले पक्ष के गुणनफल को कम राशियों वाले पक्ष के गुणनफल से भाग करने पर (इष्ट) फल की प्राप्ति होती है।"[2]

नीचे हम लीलावती के एक उदाहरण को हल करके हिन्दू नियम की करणविधि का स्पष्टीकरण करेंगे।

उदाहरण। "यदि १००(निष्क)का १ महीने का ब्याज ५(निष्क)हो, तो १६ (निष्क) का १ वर्ष का ब्याज क्या होगा? ब्याज और मूलधन के ज्ञान से समय, तथा समय और ब्याज के ज्ञान से मूलधन भी ज्ञात करो।"

ब्याज निकालना—

प्रथम पक्ष है:

१०० निष्क, १ महीना, ५ निष्क (फल)।

द्वितीय पक्ष है:

१६ निष्क, १२ महीने, य निष्क।

दोनों पक्ष की राशियों को निम्न प्रकार से ऊर्ध्वाधर कोष्ठों[3] में लिखते हैं—

१००	१६
१	१२
५	०

[4]

[1] इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। कुछ के मत से इसका अर्थ 'भाजक' अथवा 'हर' है और कुछ के मत से इसका अर्थ 'दूसरे पक्ष का फल' है। दोनों ही अर्थों से नियम शुद्ध है। तथापि, पहले अर्थ को लेने से भास्कर की व्याख्या उनके पूर्ववर्ती लेखकों की व्याख्या से मेल खाती है। यह ध्यान देने योग्य है कि आर्यभट द्वितीय ने इस नियम को दो बार दिया है। पहली बार उन्होंने हरों के पक्ष परिवर्तन की बात नहीं कही है, परन्तु दूसरी बार ऐसा कहा है।

[2] लीलावती, पृ० १८।

[3] एक जाति की राशियों को पास के क्षैतिज कोष्ठों में लिखते हैं।

[4] राशियों को कोष्ठों में इसलिए लिखते हैं कि भिन्नों को लिखने में आसानी हो और इसलिए भी कि फलों का पक्ष-परिवर्तन कर देने के बाद पत चला सके कि किस पक्ष में अधिक राशियाँ हैं। कभी-कभी अज्ञात राशिवाला कोष्ठ खाली

ऊपर पहले पक्ष में सबसे नीचे की राशि ५, प्रथम पक्ष का फल है, दूसरे पक्ष में कोई फल नहीं है। फलों का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

१००	१६
१	१२
०	५

दूसरे पक्ष में राशियों की संख्या अधिक है, और उनका गुणनफल ९६० है। कम राशियों वाले पक्ष की संख्याओं का गुणनफल १०० है। अतएव इष्ट $\frac{९६०}{१००} = \frac{४८}{५}$

अर्थात् $९\frac{३}{५}$ है। हिन्दू लोग इसे इस प्रकार लिखते थे—

फल— $\left|\frac{४८}{५}\right|$ अर्थात् निष्क ९, निष्क-भाग $\left|\frac{३}{५}\right|$ ।

समय निकालना—

इस अवस्था में दो पक्ष ये है :

१०० निष्क, १ महीना, ५ निष्क;

और १६ निष्क, य महीना, $\frac{४८}{५}$ निष्क।

इन्हे पहले की भाँति स्थापित करने पर मिलता है

१००	१६
१	०
५	४८
	५

छोड़ दिया जाता है जैसा कि (गवर्नमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी बनारस में संगृहीत) मुनीश्वर कृत पाटीसार की एक प्रति में मिलता है। जब राशियों को अलग-अलग कोष्ठों में लिखते हैं तब अज्ञात राशि या राशि के अभाव को सूचित करने के लिए ० चिह्न का प्रयोग अनावश्यक है। (एशियाटिक सोसायटी बंगाल में संगृहीत) लीलावती की कुछ टीकाओं में राशियों को अलग-अलग कोष्ठों में नहीं लिखा गया है, परन्तु ऐसी अवस्थाओं में राशि के अभाव को ० चिह्न द्वारा सूचित किया गया है। पक्ष-परिवर्तन के बाद, जिस पक्ष में शून्य होता है उसमें दूसरे पक्ष की अपेक्षा अधिक राशियाँ होती हैं।

फलों का, अर्थात् सबसे नीचे के कोष्ठों की संख्याओं का पक्षान्तरण करने पर मिलता है

१००	१६
१	०
४८	५
५	

हरों का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

१००	१६
१	०
४८	५
	५

यहाँ पर अधिक संख्याएँ पहले पक्ष में है और उनका गुणनफल ४८०० है। दूसरे पक्ष की संख्याओं का गुणनफल ४०० है। अतएव इष्टफल है

$$\left|\frac{४८००}{४००}\right| \equiv \frac{४८००}{४००} \equiv १२ \text{ महीने।}$$

मूलधन निकालना—

प्रथम पक्ष है:

१०० निष्क, १ महीना, ५ निष्क।

द्वितीय पक्ष है:

य निष्क, १२ महीने, $\frac{४८}{५}$ निष्क।

इन्हे पूर्ववत् इस प्रकार लिखते है—

१००	०
१	१२
५	४८
	५

फलों (अर्थात् सबसे नीचे वाले कोष्ठों की राशियों) का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

१००	०
१	१२
४८	५
५	

हरों का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

१००	०
१	१२
४८	५
	५

अधिक संख्याओं वाले पक्ष की संख्याओं के गुणनफल को कम संख्याओ वाले पक्ष की संख्याओं के गुणनफल से भाग देने पर मिलता है

$$\left|\frac{४८००}{३००}\right| = १६ \text{ निष्क।}$$

त्रैराशिक, दशा-विशेष के रूप में

ब्रह्मगुप्त के अनुसार उपर्युक्त नियम को त्रैराशिक में भी प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणतः, यदि हम त्रैराशिक के अन्तर्गत दिये हुये उदाहरण १ को लें तो उसकी राशियों को इस नियम के अनुसार निम्न प्रकार से लिखा जायगा—

२१	०
२	
५	३७
४	४

फलों का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

२१	०
२	
३७	५
४	४

[1] यहाँ पर हम $\frac{५}{४}$ पल चन्दन की लकड़ी को $\frac{२१}{२}$ पण (धन) का 'फल' मानते हैं। पिछले नियम के अनुसार हम $\frac{२१}{२}$ पण को 'फल' या मध्य-राशि मानने को बाध्य हैं, क्योंकि 'प्रथम' और 'तृतीय' राशियाँ सजातीय कही गई हैं। यह देखा जायगा कि यहाँ दिये हुए प्रकारान्तर में तीनों राशियों में से कोई भी एक राशि 'फल' के रूप में ली जा सकती है।

हरों का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है—

२१	० २
३७ ४	५ ४

अतएव, इष्टफल है $\frac{२१ \times ३७ \times ४}{२ \times ५ \times ४}$, जो कि पहिले प्राप्त हुआ था।

यदि हम अज्ञात राशि संबन्धी राशियों को फल मानें, तो राशियों को निम्न प्रकार स्थापित करना चाहिए—

५ ४	३७ ४
२१ २	०

इससे भी पहले की भाँति[1] $\frac{३७ \times ४ \times २१}{५ \times ४ \times २}$ फल मिलता है।

त्रैराशिक की उपर्युक्त करणविधि अरबों में मिलती है[2], परन्तु भारतवर्ष में ब्रह्मगुप्त के बाद इसके दर्शन नहीं होते। इससे सूचित होता है कि अरब वाले हिन्दू गणित-संबन्धी अपने ज्ञान के लिए ब्रह्मगुप्त के विशेष रूप से ऋणी हैं।

उपर्युक्त लेखनशैली को देखते हुए त्रैराशिक की करणविधि अनुपात के नियम के समान ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार बहुराशिक का नियम भी यथोचित रीति से आधुनिक संकेत में परिवर्तित किये जाने पर अनुपातमात्र ही है। स्मिथ[3] महोदय का कथन है कि हिन्दुओं की करणविधि "त्रैराशिक और अनुपात के सम्बन्ध

[1] अधिक राशियोंवाले पक्ष की संख्याओं के गुणनफल को कम राशियों-वाले पक्ष की संख्याओं के गुणनफल से भाग किया गया है। इस अवस्था में ० को राशि नहीं माना गया है। यह केवल अज्ञात राशि, अथवा अभाव का द्योतक है।

[2] उदाहरणतः, रञ्जी बेन एजरा ने ४७ : ७ = ६३ : य के स्थान में $४\frac{७}{७}\ \ ६\frac{३}{०}$ लिखा है। देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ४८९ आदि।

[3] पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ४८८।

को स्वीकार नहीं करती।" इस कथन के पीछे पर्याप्त औचित्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उक्त करणविधियाँ अनुपात तथा राशि-परिवर्तन की भावना को दृष्टि में रखकर ही बनाई गई हैं। हिन्दू ग्रंथों का उद्देश्य ऐसा नियम प्रस्तुत करना है जो जनसाधारण द्वारा सुखपूर्वक प्रयोग किया जा सके। इसी कारण, ऐसी अवस्थाओं का भी कथन किया गया है जिनमें त्रैराशिक का व्यत्यास होता है। इस दृष्टि से देखने पर कि इसे विद्यार्थी को स्वयं सोचने का मौका मिलता है कि नहीं, भारतीय नियम अवश्य ही दोषपूर्ण है; परन्तु व्यावहारिक उपयोग के लिए, हमारे मत से, इससे अच्छे नियम का सृजन नहीं किया जा सकता था।

१३. व्यावसायिक प्रश्न

प्राचीन भारत में ब्याज

ब्याज लेने की प्रथा बहुत प्राचीन है। भारतवर्ष में यह प्रथा निश्चित रूप से पाणिनि के समय से देखने में आती है। पाणिनि ने "ब्याज, भाड़ा, लाभ तथा दिये गये कर और उत्कोच" के सम्बन्ध में प्रयुक्त अंकसंज्ञाओं में 'क' उपसर्ग के प्रयोग को प्रमाणित सिद्ध करते हुए नियम दिये हैं।[1] ब्याज प्रत्येक महीने के बाद देय होता था, और ब्याज की दर प्रायः प्रतिशत थी,[2] यद्यपि सदैव यह बात न थी। ब्याज की दर भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न थी परन्तु प्रतीत होता है कि १५ प्रतिशत प्रतिवर्ष का ब्याज उचित समझा जाता था। चौथी शताब्दी ई० पू० में विरचित कौटिल्य के अर्थशास्त्र में लिखा है: "१¼ पण प्रतिमास प्रतिशत का ब्याज उचित है। ५ पण प्रतिशत प्रतिमास व्यावसायिक ब्याज (की दर) है। १० पण प्रतिशत प्रतिमास वनों में प्रचलित है। और २० पण प्रतिशत प्रतिमास समुद्री व्यापार में प्रचलित है।"[3] गोतम-सूत्र का

[1] पाणिनि, अष्टाध्यायी, ५. १. २२, ४७, ४९।

[2] बिभूतिभूषण दत्त ने दिखलाया है कि प्रतिशत की भावना का अभ्युदय भारतवर्ष में हुआ था। अमेरिकन मैथेमेटिकल मंथली, जिल्द ३४, पृ० ५३०, में उनका लेख देखिए।

[3] अर्थशास्त्र, आर० शामशास्त्री द्वारा संपादित और अंगरेजी में अनुवादित, मैसूर से प्रकाशित, ३, २, पृ० २१४।

कथन है: "५ माषा प्रति-कार्षापण (१ कार्षापण=२० माषा) का ब्याज उचित है।"[४]

हिन्दू गणित में ब्याज

अन्य वस्तुएँ दी रहने पर ब्याज, मूलधन अथवा समय इत्यादि ज्ञात करने के साधारण प्रश्न पंचराशिक के प्रकरण में मिलते हैं। हिन्दू ग्रंथों में एक मिश्रक-व्यवहार नाम का प्रकरण होता है, जिसमें ब्याज सम्बन्धी विविध प्रश्न दिये रहते हैं। इस प्रकरण के विषय भिन्न-भिन्न ग्रंथों में, उनके आकार और विस्तार के अनुसार, न्यूनाधिक है। उदाहरणतः, आर्यभटीय में ब्याज के सम्बन्ध में केवल एक नियम है, जब कि गणित-सार-संग्रह में इस प्रकार के अनेक नियम और उदाहरण हैं।

वर्ग-समीकरण पर प्रश्न

आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने निम्न प्रश्न को हल करने का नियम दिया है:

कुछ धन 'ध' (=१००) एक महीने के लिए ब्याज पर दिया गया है (अज्ञात ब्याज=य)। अज्ञात ब्याज (य) समय 'स' (=६) के लिए ब्याज पर दिया गया है। इस समय के बीतने पर मौलिक ब्याज (य) और उस ब्याज का ब्याज मिलकर 'क' (=१६) के बराबर हो जाता है। धन 'ध' पर ब्याज की दर (य) ज्ञात करना है।

इस प्रश्न में समीकरण

$$सय^२ + धय - कध = ०$$

को हल करना पड़ता है; जिससे हमें

$$य = \frac{-ध/२ \pm \sqrt{(ध/२)^२ + कधस}}{स}$$

प्राप्त होता है।

करणी के पहले ऋण चिह्न लेने पर प्रश्न का हल नहीं प्राप्त होता, अतएव 'य' का उपयुक्त मान

$$= \frac{\sqrt{कधस + (ध/२)^२} - (ध/२)}{स}$$

[४] गोतम-सूत्र, १२. २६। २० माषा का १ कार्षापण होने के कारण, ब्याज की दर १५ प्रतिशत प्रतिवर्ष होती है।

इस फल को आर्यभट प्रथम ने इस प्रकार वर्णन किया है :

"मूलधन के ब्याज तथा उस ब्याज पर प्राप्त ब्याज (के योग 'क') को समय (स) तथा मूलधन (ध) दोनों से गुणा करो। उस (गुणनफल) में मूलधन के आधे (ध/२) के वर्ग को जोड़ दो। (जो योगफल प्राप्त हो) उसका वर्गमल निकालो। उस (वर्गमूल) में से मूलधन के आधे (ध/२) को घटा दो; और (शेष को) समय (स) से भाग दे दो। जो (लब्धि) मिले, वही मलधन (ध) का ब्याज है।"[1]

ब्रह्मगुप्त ने अधिक व्यापक नियम दिया है। उनका प्रश्न यह है :

मूलधन (ध) 'स$_१$' महीनों के लिए ब्याज पर दिया गया है और उस मूलधन का अज्ञात ब्याज (=य) स$_२$ महीनों के लिए उसी दर से ब्याज पर दिया गया है; उस समय के बीतने पर मिश्रधन 'क' के तुल्य हो जाता है। 'य' का मान ज्ञात करना है।

यहां पर निम्न समीकरण बनता है :

$$य^२ + \frac{धस_१}{स_२} य - \frac{कधस_१}{स_२} = ०,$$

जिसका हल है

$$य = \pm \sqrt{\frac{कधस_१}{स_२} + \left(\frac{धस_१}{२स_२}\right)^२} - \frac{धस_१}{२स_२}.$$

करणी के ऋणात्मक मान से प्रश्न का हल नहीं प्राप्त होता, अतएव उसका त्याग कर दिया जाता है।

ब्रह्मगुप्त ने निम्न सूत्र दिया है :

"मूलधन (ध) को (अपने) समय (स$_१$) से गुणा करो, और गुणनफल को) अन्य समय (स$_२$) से भाग दो। जो (लब्धि) मिले उसे दो स्थानों पर रक्खो। एक को मिश्रधन (क) से गुणा करो और (गुणनफल में) दूसरे के आधे के वर्ग में जोड़ दो। उस (योगफल) का वर्गमूल निकालो। उस (वर्ग-

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक २५। इसमें मूलधन के लिए 'मूल' शब्द तथा ब्याज के लिए 'फल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

मूल) में दूसरे के आधे को घटा दो। (जो शेष बचे) वही मूलधन का ब्याज (य) है।"[1]

अन्य प्रश्न

महावीर ने मिश्रक-व्यवहार में दो अन्य प्रकार के प्रश्न दिये हैं, जिनमें युग-पत्-समीकरणों को हल करने की आवश्यकता पड़ती है। पहले प्रकार के प्रश्नों का एक नमूना यह है:[2]

"६० (प्रमाण 'प्र') पर १½ महीने (समय 'स') का ब्याज (फल 'फ') २½ है। (अज्ञात धन 'ध' पर अज्ञात समय 'सा' का) ब्याज (फा) २४ है। समय (सा) और मूलधन (ध) का योग (म) ६० है। (समय 'सा' और मूल-धन 'ध' क्या हैं)?"

प्रश्न के अनुसार

$$\frac{\text{फ ध सा}}{\text{प्र स}} = \text{फा} \quad \ldots\ldots\ldots (१)$$

$$\text{ध} + \text{सा} = \text{म} \quad \ldots\ldots\ldots (२)$$

$$\therefore \quad \text{ध} - \text{सा} = \pm \sqrt{\text{म}^2 - \frac{\text{प्र स}}{\text{फ}} \times ४ \text{ फा}}$$

$$\text{अतएव} \quad \text{ध} = \frac{१}{२}\left\{\text{म} \pm \sqrt{\text{म}^2 - \frac{\text{प्र स}}{\text{फ}} \times ४ \text{ फा}}\right\}$$

महावीर ने इस फल का वर्णन निम्न प्रकार से किया है:

"प्रमाण को समय तथा चतुर्गुणित ब्याज से गुणा करो और अपने फल से भाग दो, और (प्राप्त लब्धि को) मिश्रधन के वर्ग में घटा दो। उसके मूल को मिश्र-धन में संक्रमण[3] करो (अर्थात् एक बार जोड़ कर और एक बार घटाकर आधा कर दो)।"[4]

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पृ० १८३। इस नियम को महावीर ने भी दिया है। देखो गणित-सार-संग्रह पृ० ७१ (श्लोक ४४)।

[2] गणित-सार-संग्रह पृ० ६६ (श्लोक ३२)।

[3] ख को क में संक्रमण करने का अर्थ है $\frac{\text{क} + \text{ख}}{२}$ और $\frac{\text{क} - \text{ख}}{२}$ के मान का ज्ञात करना।

[4] गणित-सार-संग्रह पृ० ६८ (श्लोक २६)। ध्यान देने योग्य है कि करणी के पूर्व के दोनों चिह्नों का प्रयोग किया गया है।

दूसरे प्रकार के प्रश्नों का एक नमूना यह है :

"प्रतिशत (प्रमाण 'प्र'), प्रति १$\frac{1}{2}$ मास (समय 'स'), का अज्ञात दर (फल 'फ') के अनुसार, ३० (धन 'ध') का किसी अज्ञात समय (मा) मे ५ ब्याज (फल 'फा') होता है। ब्याज की दर (फ) और समय (सा) का योग (म) १२$\frac{1}{2}$ है। (ब्याज की दर और समय ज्ञात करो)।"[1]

इसका हल निम्नलिखित है :

$$\text{सा} = \frac{1}{2}\left\{ \text{म} \pm \sqrt{\text{म}^2 - \frac{\text{प्र स फा } 8}{\text{ध}}} \right\},$$

और

$$\text{फ} = \frac{1}{2}\left\{ \text{म} \mp \sqrt{\text{म}^2 - \frac{\text{प्र स फा } 8}{\text{ध}}} \right\}.$$

महावीर ने इसे इस प्रकार कहा है :

"मूल (प्रमाण) को अपने समय से, फल से तथा ४ से गुणा करो और (गुणनफल को) अन्य मूल (धन) से भाग दो। इस प्रकार जो मिले, उसे मिश्र-धन के वर्ग में घटाकर शेष का वर्गमूल निकालो, और उसे मिश्रधन मे संक्रमण करो।"[2]

ब्याज सम्बन्धी विविध प्रश्न

पाटीगणित के हिन्दू ग्रंथों में उपर्युक्त प्रश्नो के अतिरिक्त विविध प्रकार के अन्य मनोरंजक प्रश्न मिलते है। उदाहरणतः ब्रह्मगुप्त ने निम्नलिखित प्रश्न को हल किया है :

उदाहरण। धन 'ध', जिसका 'म' महीने का ब्याज 'र' है, कितने समय मे अपने का 'क' गुना हो जायगा?

इस प्रश्न को हल करने का नियम यह है :

"प्रमाण (अर्थात् दिये हुए धन को) अपने समय से गुणा करो और ब्याज

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ६९ (श्लोक ३४)।
[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० ६९ (श्लोक ३३)।

की दर से भाग दे दो, और (जो मिले) उसे एकोन गुणक से गुणा कर दो। इस प्रकार से (इष्ट) काल प्राप्त होता है।"[1]

अर्थात्

$$\text{इष्ट समय} = \frac{\text{ध} \times \text{म}}{\text{र}} \times (\text{क}-१)।$$

गणित-सार-संग्रह (८५० ई०) में ब्याज-संबन्धी अनेक प्रश्न हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जा रहे हैं :

(१) "यहाँ (इस प्रश्न में) ($ध_१$=) ४०, ($ध_२$=) ३०, ($ध_३$=)२०, और ($ध_४$=)५० मूलधन हैं; ($स_१$=)५, ($स_२$=)५, ($स_३$)=३, और ($स_४$=) ६ (क्रमानुसार तत्संबंधी) महीने हैं। उनके फलों (अर्थात् ब्याजों) का योग (म=) ३४ है। (यदि ब्याज की दर प्रत्येक अवस्था में एक ही हो, तो प्रत्येक धन का अलग अलग ब्याज ज्ञात करो)।"[2]

मान लो कि १ का १ महीने का ब्याज र है, तो

$$\text{र} = \frac{फ_१}{ध_१ स_१} = \frac{फ_२}{ध_२ स_२} = \frac{फ_३}{ध_३ स_३} = \ldots,$$

जहाँ पर $फ_१, फ_२, फ_३, \ldots$ क्रमानुसार $ध_१, ध_२, ध_३ \ldots$ पर $स_१, स_२, स_३, \ldots$ महीनों के ब्याज हैं।

अतएव

$$\frac{फ_१}{ध_१ स_१} = \frac{फ_२}{ध_२ स_२} = \frac{फ_३}{ध_३ स_३} = \ldots\ldots = \frac{फ_१ + फ_२ + फ_३ + \ldots}{ध_१ स_१ + ध_२ स_२ + ध_३ स_३ + \ldots\ldots} = \frac{\text{म}}{ध_१ स_१ + ध_२ स_२ + ध_३ स_३ + \ldots}$$

अथवा $$फ_१ = \frac{\text{म}\ ध_१\ स_१}{ध_१ स_१ + ध_२ स_२ + ध_३ स_३ + \ldots\ldots},$$ इत्यादि।

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १८१।
[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७० (श्लोक ३८)।

महावीर ने उपर्युक्त प्रश्न को हल करने के लिए यही सूत्र दिया है।[1]

(२) "१०, ६, ३, और १५ ब्याज (के धन) हैं; ५, ४, ३ और ६ महीने हैं (जिनमें पूर्वोक्त ब्याज के धन क्रमानुसार प्राप्त होते हैं) ; और (चारों) मूल-धनों का योग १४० है। (ब्याज की दर हर अवस्था में समान मान कर, चारों मूलधनों को अलग अलग ज्ञात करो)"[2]

(३) "यहाँ (इस प्रश्न में) ४०, ३०, २० और ५० (क्रमानुसार चार) मूलधन हैं; १०, ६, ३ और १५ क्रमानुसार उनके ब्याज हैं; और १८ उनके समयों का योग है। ब्याज की दर समान मान कर, चारो समयों को अलग अलग ज्ञात करो।"[3]

(४) "८० का ३ महीने का ब्याज अज्ञात है; (परन्तु यह पता है कि) यदि वह अज्ञात ब्याज (उसी दर से) ब्याज पर दे दिया जाय, तो १ वर्ष में वह ७$\frac{1}{2}$ हो जायगा। बताओ (अज्ञात) मूल और उसका ब्याज कितना है।"[4]

(५) "(तीन) मिश्रधन क्रमशः ५०, ५८ और ६६ है, तथा तत्संबंधी समय क्रमशः ५, ७ और ९ महीने हैं। (यदि प्रत्येक का मूलधन बराबर हो, तो) अलग अलग ब्याज क्या हैं, ज्ञात करो।"[5]

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७० (श्लोक ३७)। इस सूत्र से स्पष्ट है कि महावीर को निम्न परिणाम ज्ञात था:

$$\frac{अ}{ब} = \frac{स}{द} = \frac{क}{ख} = \ldots = \frac{अ + स + क + \ldots}{ब + द + ख + \ldots}$$

[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७० (श्लोक ४०)। इसका हल उसी पृष्ठ पर श्लोक ३९ में दिया है।

[3] गणित-सार-संग्रह, पृ ७० (श्लोक ४३)। इसका हल उसी पृष्ठ पर श्लोक ४२ में दिया है।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७१ (श्लोक ४६)। यह आर्यभट के प्रश्न के सदृश है। ऊपर पृ० २०७ देखिए।

[5] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७१ (श्लोक ४८)। इसको हल करने में सर्वसमिका

$$\frac{अ}{ब} = \frac{स}{द} = \frac{अ - स}{ब - द}$$

के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है।

(६) "(चार तुल्य धन ४ भिन्न भिन्न समयों के लिए ब्याज पर दिये गये हैं।) समय और मूलधन का (अलग अलग) योग क्रमानुसार २१, २३ और २५ है, और ब्याज क्रमानुसार ६, १० और १४ हैं। समान मूलधन क्या है ?"[१]

(७) "कुछ धन ६ प्रतिशत की दर से उधार लिया गया और ९ प्रतिशत की दर से उधार दे दिया गया। यदि ३ महीने में इस लेन देन में ८१ का लाभ हुआ, तो वह धन कितना है ?"[२]

(८) "६० का मासिक ब्याज ५ है। (इस दर से उधार पर दिया गया) मूलधन ३५ है। यदि धन १५ की त्रैमासिक किस्तों (स्कन्धों) में अदा कर दिया जाय तो बताओ कितने समय में पूरा धन चुकता हो जायगा ?"[३]

(९) "तीन धन २, ६ और ४ प्रतिशत प्रतिमास की दर से ब्याज पर दिये गये; और उनके मिश्रधनों का योग ४४०० है। यदि प्रत्येक धन से २ महीने में बराबर ब्याज मिलता हो, तो वे मूलधन कितने कितने है ?"[४]

(१०) "एक व्यक्ति (जिसने कुछ धन ब्याज पर लिया है) प्रत्येक १२ दिन बाद २$\frac{1}{2}$ की एक किस्त (स्कन्ध) अदा करता है। यदि ब्याज की दर ३ प्रतिशत प्रति मास हो और वह व्यक्ति १० महीने में ऋण मुक्त हो जाय, तो मूलधन क्या है ?[५]

(११) "तीन धन, जिनका योग ८५२० है, क्रमानुसार ३, ५ और ८ प्रतिशत (प्रति मास) की दर से ब्याज पर दिये गये। अपने अपने मूलधन में से ५ महीने का अपना अपना ब्याज निकाल देने पर वे बराबर हो जाते हैं। (बताओ तीनों धन कितने कितने है) ?"[६]

(१२) "तीन धन, जिनका योग १३७४० है, क्रमानुसार २, ५ और ९ प्रतिशत

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७२ (श्लोक ५२)।
[२] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७२ (श्लोक ५५)।
[३] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७३ (श्लोक ५९)।
[४] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७३ (श्लोक ६१)।
[५] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७३ (श्लोक ६५)।
[६] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७४ (श्लोक ६७)।

(प्रति मास) की दर से ४ महीने के लिए ब्याज पर दिये गये। अपना अपना ब्याज जोड़ देने पर वे धन तुल्य हो जाते हैं। (बताओ वे धन क्या हैं) ?"[१]

(१३) "किसी मनुष्य ने ५ प्रतिशत प्रतिमास की दर से कोई धन ऋण लिया जिसे वह प्रति $\frac{3}{2}$ महीने बाद किस्तों में चुकाता है। पहली किस्त में ७ देता है और आगे की किस्तों में सात-सात की वृद्धि करके देता है (अर्थात् दूसरी में १४, तीसरी में २१, इत्यादि); सबसे बड़ी किस्त ६० है। इस प्रकार वह मनुष्य (७ आदि, ७ चय, और) $\frac{60}{7}$ पदोंवाली श्रेढ़ी के योग को मूलधन के रूप में देता है, और उस मूल-धन पर एक किस्त का ब्याज भी देता है। तो वह मूलधन और ब्याज बताओ; यह भी बताओ कि वह मनुष्य कितने समय में ऋण से मुक्त होता है।"[२]

वस्तुओं का विनिमय

विनिमय की हिन्दू पारिभाषिक संज्ञा 'भाण्ड-प्रति-भाण्ड' है। पाटीगणित के सभी हिन्दू ग्रंथो में वस्तुओं के विनिमय से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न मिलते हैं। इन ग्रंथो में इस बात का निर्देश रहता है कि विनिमय के प्रश्नों का आधार मिश्रानु-पात है तथा वे पञ्चराशिक इत्यादि के नियमों की सहायता से हल किये जा सकते हैं। विनिमय के प्रश्नों का एक नमूना यह है :

"यदि इस बाजार में एक द्रम्म मे ३०० आम और एक पण मे ३० बढ़िया अनार मिलते हैं; तो हे मित्र ! शीघ्र बताओ कि १० आमों के बदले मे कितने अनार मिलेंगे।"[३]

अन्य प्रकार के व्यावसायिक प्रश्न

हिन्दू गणित के ग्रंथों में मिलनेवाले अन्य विविध प्रकार के व्यावसायिक प्रश्नों में (१) साझा और समानुपातिक विभाग और (२) सुवर्ण के वर्ण की गणना से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न उल्लेखनीय हैं।[४] इन प्रश्नों मे से अधिकांश बीजात्मक हैं, परन्तु उनकी गणना पाटीगणित (अंकगणित) में की गई है। प्रश्नों को हल करने के नियम प्रश्नों के पूर्व आते है। ये नियम इतनी अधिक मात्रा में है कि यहाँ पर उनका कथन नहीं किया जा सकता। तो भी नीचे दिये हुए उदाहरणो से उनके आकार-प्रकार के सम्बन्ध मे कुछ परिचय मिल जायगा :

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७४ (श्लोक ६६)।
[२] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७४-७५ (श्लोक ७२-७३)।
[३] लीलावती, पृ० २०।
[४] ऐसे उदाहरण लीलावती, गणित-सार-संग्रह, त्रिंशतिका, इत्यादि में मिलते हैं।

(१) (नौ) बनियों ने क्रमानुसार १ से लेकर ९ तक धन लगाकर एक घोड़ा खरीदा, और उसे ४९५ में बेच दिया। बताओ कि इस मिश्रधन में प्रत्येक का कितना कितना हिस्सा है।

(२) किसी यजमान ने दीक्षा के अवसर पर चार मठों से, जिनमें बराबर बराबर छात्र थे, छात्रों को भोजन करने के लिए निमन्त्रित किया। परन्तु उन मठों से $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{5}$, $\frac{1}{6}$ और $\frac{1}{7}$ छात्र भोजन के लिये आये। देखने में आया कि यदि पृथक्-पृथक् मठों से आये हुए छात्रों की संख्याओं में क्रमशः १, २, ३ और ४ जोड़ दिये जायँ तो सब मिलाकर ८७ संख्या आती है; और यदि उनमें क्रमशः १, २, ३ और ४ घटा दिये जायँ तो ६७ संख्या आती है। तो बताओ कि मठों की छात्र-संख्या क्या है तथा प्रत्येक मठ से कितने कितने छात्र (भोजन के लिये) आये।

(३) "३२ पल, ६० पल, और २४ पल आयतनवाले तीन कलस क्रमशः घृत, उदक् और मधु से लबालब भरे हुए हैं। तीनों पदार्थों को एक में मिलाकर, उस मिश्र पदार्थ को उन घड़ों में पुनः भर दिया गया। घृत, उदक् और मधु की मात्रा किस (कलस) में कितनी है, मुझे नहीं मालूम। बताओ प्रत्येक कलस में उन (पदार्थों) की कितनी-कितनी मात्रा है।"[1]

(४) "किन्हीं तीन बनियों ने साझे में क्रय-विक्रय किया। पहले की पूंजी ६ पुराण है और दूसरे की ८ पुराण; तीसरे की (पूंजी) अज्ञात है। (क्रय-विक्रय में) ९६ पुराणों का लाभ हुआ, जिसमें से अज्ञात पूंजीवाले को ४० पुराण मिले। हे मित्र! यदि तुम साझे (प्रक्षेप) की विधि को जानते हो तो गणित करके बताओ कि उस (तीसरे) ने कितनी पूंजी लगायी थी, तथा (अन्य) दोनों बनियों को कितना कितना लाभ हुआ।"[2]

(५) "चार बनिये थे। उनमें से प्रत्येक ने अपने धन का आधा अन्य (तीन बनियों में से) प्रत्येक से ले लिया, और इस प्रकार उनके पास बराबर बराबर धन हो गया। बताओ प्रत्येक के पास पहले कितना धन था।"[3]

[1] **इस उदाहरण और पिछले दो उदाहरणों को पृथूदकस्वामी ने ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त (गणिताध्याय, श्लोक १६) पर अपने भाष्य में दिया है।**

[2] गणित-सार-संग्रह, **पृ० ९४ (श्लोक २२३-५)।**

[3] गणित-सार-संग्रह, **पृ० ९९ (श्लोक २६७½)।**

(६) "मन्त्र और औषध की शक्ति से संपन्न किसी महापुरुष ने मुर्गों के युद्ध को होते देखकर दोनों मुर्गबाजों से गुप्त भाषा में मंत्रणा की। एक से कहा: "यदि तुम्हारा मुर्गा विजयी हो तो तुम अपना धन मुझे दे देना, यदि तुम्हारी विजय न होगी तो मैं उस धन का $\frac{3}{5}$ भाग तुम्हें दे दूंगा।" दूसरे के पास जाकर (उसी प्रतिबन्ध पर) उसके धन का $\frac{3}{5}$ भाग देने की प्रतिज्ञा की। दोनों दशाओं में उसे १२ का लाभ हो सकता था। हे गणकमुखतिलक! बताओ कि उन मुर्गबाजों के पास कितना-कितना धन था।"[1]

(७) "९ मातुलुंग (बिजौरा नींबू) और ७ सुगंधित कैथों का मिश्रित मूल्य १०७ है, और ७ मातुलुंग और ९ सुगंधित कैथों का मिश्रित मूल्य १०१ है हे गणक! मातुलुंग और कैथे के मूल्यों को अलग अलग करके मुझे शीघ्र बताओ।"[2]

(८) "'३ (पण) में ५ कबूतर, ५ (पण) में ७ सारस, ७ (पण) में ९ हंस, और ९ (पण) में ३ मयूर मिलते हैं। (जाओ इस दर से) राजकुमार के क्रीड़ार्थ १०० (पण) में १०० (पक्षियाँ) ले आओ।' यह कहकर कोई व्यक्ति (बाजार) भेज दिया गया है। बताओ वह किस (प्रकार की पक्षी को खरीदने) में कितना (धन) व्यय करेगा।"[3]

(९) "१ वर्णवाले (सुवर्ण) का १ भाग है, २ वर्णवाले का १ भाग, ३ वर्णवाले का १ भाग, ४ वर्णवाले के २ भाग, ५ वर्णवाले के ४ भाग, १४ वर्ण वाले के ७ भाग, और १५ वर्ण वाले के ८ भाग। इनको एक मे मिलाकर अग्नि में पकाने पर मिश्रित सुवर्ण का क्या वर्ण होगा? और उस मिश्रित सुवर्ण को पूर्वोक्त भागों के मालिकों में विभाजित करने पर प्रत्येक को कितना कितना मिलेगा?"[4]

(१०) "२, ३ और ४ वर्णों के तीन तीन सुवर्ण हैं और १३ वर्ण के कुछ

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ९९-१०० (श्लोक २७०$\frac{1}{2}$ – २$\frac{1}{2}$)।
[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८४ (श्लो० १४०$\frac{1}{2}$ – २$\frac{1}{2}$)।
[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८५ (श्लो० १५२ – ३)।
[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८८ (श्लो० १७० – १$\frac{1}{2}$)।

सुवर्ण हैं; मिश्रित सुवर्ण का वर्ण १० है। हे मित्र बताओ ! (१३ वर्ण के अज्ञात) सुवर्णों की संख्या क्या है।"[1]

१४. विविध प्रश्न

इष्ट-कर्म

यह नियम अँगरेजी में 'रेगुला फाल्सी' अथवा 'रूल ऑव फाल्स पोजीशन' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दू गणित की सभी पुस्तकों में यह नियम उपलब्ध है।[2] भास्कर द्वितीय ने इस नियम को विशेष महत्त्व दिया है और इसे 'इष्ट-कर्म' ("कल्पना का नियम") कहा है। उन्होंने इसका निम्न प्रकार से वर्णन किया है :

"किसी कल्पित संख्या को प्रश्न के कथनानुसार गुणा करना, भाग देना, घटाना अथवा जोड़ना चाहिए। दी हुई ('इष्ट') संख्या को कल्पित संख्या से गुणा करके उसे (उपर्युक्त विधि से प्राप्त) संख्या द्वारा भाग देना चाहिए। इस प्रकार इष्ट राशि की प्राप्ति होती है। यही इष्ट-कर्म कहलाता है।"[3]

श्रीधर ने कल्पित संख्या को एक मान लिया है।[4] महावीर ने विविध प्रकार के प्रश्नों में इस नियम को प्रयोग किया है।[5] गणेश ने लीलावती पर अपनी टीका मे लिखा है : "इस नियम में केवल गुणा, भाग और भिन्न के परिकर्मों का प्रयोग करना होता है।" निम्नलिखित उदाहरणों से ऐसे प्रश्नों के आकार-प्रकार का स्पष्टीकरण हो जायगा जो कल्पना की विधि से हल किये जाते हैं।

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८९ (श्लो० १८१)। इस प्रकार के उदाहरण त्रिशतिका (पृ० २६) और लीलावती (पृ० २५) में भी मिलते हैं।

[2] यह नियम भारतवर्ष में आविष्कृत हुआ और वहाँ से अरब होकर यूरोप को गया। एक मध्यकालीन हस्तलिपि में, जो लिब्री महोदय द्वारा इस्तुवार, १, ३०४ में प्रकाशित की गयी है तथा जो संभवतः रब्बी बेन एजरा की कृति है, यह नियम हिन्दुओं को आरोपित किया गया है। अधिक विस्तार और उल्लेखों के लिए, देखिए स्मिथ, हिस्ट्री, जिल्द २, पृ० ४३७, फुटनोट १।

[3] लीलावती, पृ० १०।

[4] त्रिशतिका (पृ० १३) में स्तम्भोद्देशक का नियम देखो।

[5] ये प्रश्न गणित-सार-संग्रह के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में दिये गये हैं।

(१) "निर्मल कमलों के जिस समूह के तृतीयांश, पंचमांश और षष्ठमांश से क्रमशः शिव, विष्णु और सूर्य की, चतुर्थांश से पार्वती की, और शेष छः कमलों से गुरुचरणों की पूजा की गई, उस (कमल-समूह) के सम्पूर्ण कमलों की संख्या शीघ्र बताओ।"[१]

(२) "हारवती स्त्री का मुक्ताहार सुरतिकलह में टूट गया; उसका तृतीयांश भूमि पर गिरा, पंचमांश शयनतल पर दिखायी पड़ा; षष्ठमांश उस सुन्दर केशवाली स्त्री ने पकड़ लिया, और दशमांश उसके पति ने रोक लिया; छः मोतियाँ हार के डोरे में देख पड़ीं। हे गणक! बताओ वह हार कितनी मोतियों का था।"[२]

(३) "स्तम्भ के $\frac{1}{10}$ से गुणित स्तम्भ का $\frac{1}{20}$ जल में स्थित है, शेष के $\frac{3}{8}$ से गुणित शेष का $\frac{1}{20}$ कीचड़ में है, और (शेष) २० हाथ स्तम्भ आकाश में है। हे मित्र! स्तम्भ की लम्बाई बताओ।"[३]

(४) "भार के कारण झुकी हुई बालियों से सुशोभित धान के खेत में कुछ तोते बैठे थे। मनुष्यों द्वारा डराये जाने से वे सहसा उड़ गये। उनका $\frac{1}{2}$ भाग पूर्व दिशा को गया; और $\frac{1}{8}$ भाग आग्नेय दिशा को। पूर्व और आग्नेय दिशाओं को गये हुए तोतों के अन्तर के अर्धोनभाग का अर्धोनभाग दक्षिण दिशा को गया; दक्षिण और आग्नेय दिशाओं को गये हुए तोतों के अन्तर का द्वि-पंचोनभाग नैर्ऋत दिशा को गया; दक्षिण और नैर्ऋत दिशाओं को गये हुए तोतों के अन्तर के तुल्य तोते पश्चिम दिशा को गये; नैर्ऋत और पश्चिम को गये हुए तोतों के अन्तर तुल्य तथा उसके $\frac{3}{8}$ तुल्य और तोते वायव्य दिशा को गये; वायव्य और पश्चिम को गये हुए तोतों के अन्तर तुल्य तथा उसके $\frac{1}{8}$ तुल्य और तोते उत्तर को गये; वायव्य और उत्तर को गये हुए तोतों के योग में उसका $\frac{3}{8}$ भाग घटाने पर प्राप्त शेष के तुल्य तोते ईशान दिशा को गये; और शेष २८० तोते (वहीं पर) आकाश में (मँडराते हुए) देखे गये। बताओ सब तोते कितने थे।"[४]

[१] लीलावती, पृ० ११। **तुलना कीजिए** गणित-सार-संग्रह, पृ० ४८ (श्लो० ७)।

[२] त्रिशतिका, पृ० १४। **इस उदाहरण को** गणित-सार-संग्रह (पृ० ४६, श्लो० १७-२२) **में दिये हुए उदाहरण से तुलना कीजिए।**

[३] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५५ (श्लो० ६०)। **तुलना कीजिए,** त्रिशतिका, पृ० १३।

[४] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८८ आदि (श्लो० १२-१६)।

विलोम विधि

यह विधि, जो विलोमगति ("उल्टा चलने की विधि") के नाम से विख्यात है, भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से मिलती है। आर्यभट प्रथम ने इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है :

"विलोम विधि मे गुणकार भागहार हो जाता है और भागहार गुणकार; जिसे जोड़ना है, वह घटाया जाता है और जिसे घटाना है, वह जोड़ा जाता है।"[1]

ब्रह्मगुप्त का वर्णन अधिक पूर्ण है। वे कहते है :

"अंत (मे दी हुई संख्या) से आरम्भ करके गुणा करने के स्थान मे भाग करो, भाग करने के स्थान मे गुणा करो, जोड़ने के स्थान मे घटाओ, घटाने के स्थान में जोड़ो, वर्ग करने के स्थान मे वर्गमूल निकालो, और वर्गमूल निकालने के स्थान में वर्ग करो। इस प्रकार क्रिया करने पर आरम्भ की राशि प्राप्त हो जाती है।"[2]

नीचे दिये हुए उदाहरणों से विलोमविधि मे हल किये जाने वाले प्रश्नों के स्वरूप स्पष्ट हो जायँगे :—

(१) "वह कौन सख्या है जिसे ७ से भाग देने पर, फिर ३ से गुणा करने पर, फिर वर्ग करने पर, फिर ५ जोड़ देने पर, फिर $\frac{3}{4}$ से भाग देने पर, और फिर आधा करके वर्गमूल लेने पर ५ प्राप्त होता है?"[3]

(२) "सूर्य के अंशशेष को यदि ७ से भाग दे, फिर लब्धि का वर्गमूल निकाले, फिर वर्गमूल में ८ घटाकर ९ से गुणा करें, और गुणनफल मे १ जोड़ दें, तो १०० मिलता है। यह परिस्थिति बुधवार के दिन कब होगी?"[4]

[1] आर्यभटीय, **गणितपाद, श्लो० २८।**

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त **पृ० ३०१। यह नियम** गणित-सार-संग्रह **(पृ० १०२, श्लो० २८६)**, महा-सिद्धान्त **(पृ० १४९)**, लीलावती **(पृ० ९)**, **इत्यादि में भी मिलता है।**

[3] गणित-सार-संग्रह, **पृ० १०२ (श्लो० २८७)। इस प्रकार के उदाहरण हिन्दू अंकगणित के ग्रंथों में बहुतायत से मिलते हैं। यूरोप में भी वे सामान्य रूप से मिलते हैं। स्मिथ ने अपनी** हिस्ट्री **(भाग २) मे ऐसे दो उदाहरण सोलहवीं शताब्दी में लिखी अमेरिकन अंकगणित से उद्धृत किये हैं।**

[4] **कोलब्रुक,** पूर्वोक्त पृ० ३३३ **(१८)।**

मिश्रण सम्बन्धी प्रश्न

पाटीगणित के हिन्दू ग्रंथों में मिश्रक-व्यवहार नाम का एक अध्याय होता है जिसमें ब्याज-सम्बन्धी विविध प्रश्न, सुवर्ण की मिलावट से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न, तथा मिली हुई राशियों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विविध प्रकार के प्रश्न, (जिनमें उन राशियों को अलग करना होता है) और उनको हल करने के नियम दिये रहते हैं। अंकगणित के प्रारम्भिक इटैलियन ग्रंथों में 'मिश्रण' (डे मेस्कोग्लो) पर एक अध्याय मिलता है, जिसका कारण स्पष्टतया हिन्दू प्रभाव है।[1]

इस अध्याय के कुछ प्रश्न निर्णयात्मक होते हैं और कुछ अनिर्णयात्मक। ब्याज और सुवर्ण सम्बन्धी कुछ प्रश्न पहले दिये जा चुके हैं[2], कुछ नीचे दिये जा रहे हैं:

(१) "किसी वन के मध्य में अनारों की तीन राशियों को ७ यात्रियों में बराबर-बराबर बाँटने पर १ अनार शेष बचा; (वैसी ही) सात राशियों को ९ यात्रियों में बाँटने पर ३ अनार शेष बचे; और (वैसी ही) पाँच राशियों को ८ यात्रियों में बाँटने पर २ अनार शेष बचे। हे गणक! बताओ (प्रत्येक राशि में) कितने अनार थे।"[3]

(२) "किसी पुरुष द्वारा कुछ आम घर लाने पर, उसके सबसे बड़े लड़के ने पहले १ आम और फिर शेष के आधे आम ले लिये। उसके चले जाने पर उससे छोटे लड़के ने भी वैसा ही किया। शेष के आधे आमों को अन्य (तीसरे) लड़के ने ले लिया। (बताओ वह मनुष्य कितने आम घर लाया था)।"[4]

(३) "एक जैनधर्मावलंबी (श्रावक पुरुष) सुगंधित कमलपुष्पों को लेकर चतुर्द्वारवाले जैन-मन्दिर को गया और वहाँ भक्तिपूर्वक पूजन किया। (मंदिर

[1] स्मिथ, हिस्ट्री, जिल्द २, पृ० ५८८, नोट ४।

[2] देखिए व्यावसायिक प्रश्न, पृ० २१६ आदि; समानुपातिक विभाग (प्रक्षेपकरण) के प्रश्न भी देखिए: त्रिशतिका, पृ० २६; गणित-सार-संग्रह, पृ० ७५ (श्लो० ७९½); महा-सिद्धान्त, पृ० १५४-१५५।

[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८२ (श्लो० १२८½)। महावीर ने इस प्रकार के उदाहरण 'वल्लिका-कुट्टीकार' के अन्तर्गत दिया है।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८२ (श्लो० १३१½)।

के) पहले द्वार पर पहुँचने पर पुष्पों की संख्या दुगनी हो गयी, दूसरे पर तिगुनी, तीसरे पर चौगुनी, और चौथे पर पँचगुनी। यदि सब द्वारों पर साठ-साठ[1] पुष्प चढ़ाये गये, तो पुष्पों की संख्या (आरम्भ में) कितनी थी ?"[2]

(४) "एक मनुष्य के पास १६ इन्द्रनील-मणियाँ हैं, दूसरे के पास १० मरकत-मणियाँ हैं, और तीसरे के पास ८ वज्रमणियाँ है। तीनों मनुष्य अपनी अपनी मणियों में से दो-दो मणियाँ एक दूसरे को दे देते है; इस प्रकार उनका धन समाप्त हो जाता है। तो इन्द्रनीलमणि, मरकतमणि और वज्रमणि के मूल्य क्या क्या है ?"[3]

(५) "जो नालियाँ (कुल्य) अलग अलग खोली जाने पर एक वापी को क्रमानुसार १ दिन, $\frac{1}{2}$ दिन, $\frac{1}{3}$ दिन और $\frac{1}{4}$ दिन में भर देती हैं वे एक साथ खोल दी जाने पर उस वापी को कितने समय में भर देंगी ?"[4]

वर्ग-समीकरण पर प्रश्न

वर्ग-समीकरण का हल भारतवर्ष में आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) के समय से ज्ञात है। पीछे हम ब्याज के कुछ प्रश्न दे चुके हैं जिनमें वर्ग-समीकरण को हल करने की आवश्यकता पड़ती है। महावीर और भास्कर द्वितीय ने ऐसे अनेक प्रश्न दिये हैं। महावीर ने इन प्रश्नों को दो भागों में विभाजित किया है: (१) वे प्रश्न जिनमें अज्ञात राशि के वर्गमूल का कथन किया रहता है, और (२) वे जिनमे अज्ञात राशि के वर्ग का निर्देश रहता है। पहले प्रकार के प्रश्नों का केवल एक धनात्मक उत्तर आता है, जबकि दूसरे प्रकार के प्रश्नों के दो उत्तर आते है जो वर्गसमीकरण के दो मूलों से संगति रखते हैं। भास्कर द्वितीय ने अपने पाटीगणित के ग्रंथ लीलावती में पहले प्रकार के प्रश्नों को स्थान दिया है। दूसरे प्रकार के प्रश्नों को, जिनमे अज्ञात राशि के वर्ग का कथन होता है, बीजगणित मे रखा है। निम्न उदाहरणों से ऐसे प्रश्नों के स्वरूप स्पष्ट हो जायँगे :

[1] छपी हुई पुस्तक में 'पञ्च' (पाँच) पाठ है। इस पाठ को स्वीकार करने पर इस प्रश्न का उत्तर ४३/१२ आता है, जो अयुक्त है। छपी हुई पुस्तक मे कुछ और भी प्रश्न हैं जिनके अयुक्त उत्तर आते हैं। वे सब, हमारी समझ में, संपादक महोदय द्वारा प्रयुक्त हस्तलिपियों के दोष के कारण हैं। अतएव हमने उपर्युक्त पाठ को संशोधन करके 'षष्ठि' (साठ) कर दिया है।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७९ (श्लो० ११२$\frac{1}{2}$-११३$\frac{1}{2}$)।

[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८७ (श्लो० १६५-१६६)।

[4] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७७ (टीका); लीलावती, पृ० २३।

(१) "ऊँटों के एक झुंड का चतुर्थांश जंगल में दिखाई दिया; उस (झुंड) के वर्गमूल का दुगुना पर्वत की तराई को गया है; (शेष) १५ ऊँट नदी के तट पर विद्यमान हैं। उन ऊँटों की संख्या क्या है?"[1]

(२) "हाथियों के एक झुंड के वर्गमूल का ५$\frac{1}{2}$ गुना पर्वत की तराई में रमण कर रहा है; शेष का $\frac{1}{9}$ पर्वत-शिखर पर रमण कर रहा है; शेष के वर्गमूल का ५ गुना कमलों के वन में रमण कर रहा है; शेष ६ हाथी नदी के तट पर रमण कर रहे हैं। (सब मिला कर) वे हाथी कितने हैं?"[2]

(३) "जन्तुरहित प्रदेश में स्थित और नाना प्रकार के पेड़-पौधों से सुशोभित उपवन में बैठे हुए मुनियों के वर्गमूल तुल्य मुनि एक वृक्ष के नीचे योगावस्था में हैं। शेष का $\frac{1}{२०}$, पुनः शेष का वर्गमूल, पुनः शेष का $\frac{1}{५}$, पुनः शेष का वर्गमूल, पुनः शेष का $\frac{1}{३}$, पुनः शेष का वर्गमूल, पुनः शेष का $\frac{1}{७}$, पुनः शेष का वर्गमूल, पुनः शेष का $\frac{1}{३}$, पुनः शेष का वर्गमूल, पुनः शेष का $\frac{1}{५}$, पुनः शेष का वर्गमूल—ये उन (मुनियों) के अंश हैं जो (क्रमशः) काव्यशिक्षण, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र के विद्वान् हैं, जो वाद-विवाद, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, मंत्र-शास्त्र, अलंकार शास्त्र, और शब्द शास्त्र (व्याकरण) के ज्ञाता हैं, जो १२ प्रकार की तपस्याओं के प्रभाव से युक्त हैं तथा जो १२ प्रकार के अंगशास्त्रों में कुशल हैं।

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५१ (श्लो० ३४)। यह प्रश्न 'मूल-जाति' का है और इसमें $य-(कय+ख\sqrt{य}+ग)=०$ की भाँति का समीकरण बनता है। इसे हल करने का नियम गणित-सार-संग्रह, पृ० ५० (श्लो० ३३) में वर्णित है।

[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५२ (श्लो० ४६)। यह प्रश्न 'शेष-मूल' जाति का है। इसमें निम्न समीकरण बनता है:

$$य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}-\frac{५}{९}(य-\frac{२१}{४}\sqrt{य})$$
$$-५\sqrt{\{य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}-\frac{५}{९}(य-\frac{२१}{४}\sqrt{य})\}}=६।$$

महावीर ने $र=य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}-\frac{५}{९}(य-\frac{२१}{४}\sqrt{य})$ कल्पना करके इसे समीकरण $र-५\sqrt{र}=६$ में परिणत कर लिया है। व्यापक परिस्थिति में इसी प्रकार का समीकरण पुनः प्राप्त होता है, जिसे उसी स्वरूप में पुनः परिणत कर लिया जाता है; इसी प्रकार बार बार परिणत करने पर अन्त में $य-क\sqrt{य}=ख$ की भाँति का समीकरण प्राप्त होता है, जिससे य का मान सरलता से निकल आता है।

इनके अतिरिक्त १२ मुनि और हैं। हे मुनिचंद्र ! मुनियों की (उक्त) समिति की संख्या कितनी है ?"[1]

(४) "(भ्रमर-पुंज का) एक भ्रमर आकाश में देख पड़ा; शेष का $\frac{1}{5}$, पुनः शेष का $\frac{1}{3}$, पुनः शेष का $\frac{1}{3}$, तथा भ्रमर पुंज के वर्गमूल तुल्य भ्रमर कमलों में हैं; २ भ्रमर आम्र (के वृक्ष) पर हैं। सब (भ्रमर) कितने हैं ?"[2]

(५) "एक शूकर-समूह (क्रोडौघ) के आधे के वर्गमूल के चौगुने शूकरों ने चीतों से विक्रीडित वन में प्रवेश किया; शेष के $\frac{1}{9}$ के वर्गमूल के ८ गुने शूकर पर्वत पर चढ़ गये; पुनः शेष के आधे के वर्गमूल के ९ गुने नदी-तट (वप्र) पर पहुँचे; ५६ शूकर वन में (अन्यत्र) देखे गये। उन (शूकरों) की सख्या बताओ।"[3]

(६) 'राजहंसों के एक झुड का वर्गमूल और ६८ के सहित वही वर्गमूल—इन दोनों का जोड़ ३४ है। बताओ उस झुड मे कितने राजहस है।"[4]

(७) "रण मे क्रुद्ध होकर अर्जुन ने कर्ण को मारने के लिए बाण चलाये। आधे बाणों से उस (कर्ण) के बाणों का निवारण करके, (चलाये हुए समस्त बाणों के) वर्गमूल के चौगुने से उसके घोड़ों को मार डाला; तीन बाणों से (क्रमशः)

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५२ (श्लो० ४२-४५)। यह प्रश्न भी उसी जाति का है जिस जाति का पूर्वगामी प्रश्न था। जो समीकरण इस प्रश्न के अनुसार बनेगा उसे सरल करने के लिए ६ बार उत्थापन करना पड़ेगा।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५३ (श्लो० ४८)। यह प्रश्न द्विरग्र-शेष-मूल जाति का है।

[3] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५४ (श्लो० ५६)। यह प्रश्न अंश-मूल जाति का है, जिसमे वर्गमूल के भिन्नांशों का कथन किया जाता है। इस प्रश्न से निम्न प्रकार का समीकरण बनता है:

$$य - क_१\sqrt{ख_१ य} - क_२\sqrt{ख_२\,(य - क_१\sqrt{ख_१ य})}$$

$$- क_३\sqrt{ख_३\left[(य - क_१\sqrt{ख_१ य}) - क_२\sqrt{ख_२\,(य - क_१\sqrt{ख_१ य})}\right]} - \ldots = च$$

बार-बार उत्थापन करके महावीर इसे निम्न स्वरूप के समीकरण मे परिणत करते हैं:

$$य - क\sqrt{ख य} - छ = 0$$

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५६ (श्लो० ६८)। यह प्रश्न मूल-मिश्र जाति का है, जिसमें वर्गमूलों के योग का कथन किया जाता है। इससे निम्न प्रकार का समीकरण बनता है:,

$$\sqrt{य} + \sqrt{य + द} = म।$$

छत्र, ध्वजा और धनुष का खंडन किया; और एक बाण से उसका शिर काट दिया। (बताओ) अर्जुन ने कितने बाण चलाये ?"[1]

(८) "भ्रमर-समूह के आधे के वर्गमूल तुल्य भ्रमर मालती-वृक्ष की ओर गये हैं; उसी ओर समस्त भ्रमरों के $\frac{८}{९}$ भी गये हैं। एक भ्रमरी उस भ्रमर के गुंजन को प्रतिध्वनित कर रही है, जो रात्रि में परिमल के लोभ से वशीभूत होकर कमल के अन्दर बन्द हो गया था (और अब अन्दर ही अन्दर गुंजन कर रहा है)। हे सुन्दरी! भ्रमरों की संख्या बताओ।"[2]

अज्ञात राशि के वर्ग पर प्रश्न

(९) "स्तम्भ के $\frac{१}{३०}$ से गुणित स्तम्भ का $\frac{१}{२}$ जल में स्थित है, शेष के $\frac{३}{१०}$ से गुणित शेष का $\frac{१}{२०}$ कीचड़ में है, और (शेष) २० हाथ स्तम्भ आकाश में है। हे मित्र! स्तम्भ की लंबाई बताओ।"[3]

(१०) "हाथियों के झुंड के दशमांश में २ घटाकर जो संख्या प्राप्त हो उसे उसी संख्या से गुणा करो, इस प्रकार जो संख्या प्राप्त होती है उतने हाथी सल्लकी वन में क्रीड़ा कर रहे हैं; (शेष) ३६ हाथी पर्वत पर विचरण कर रहे हैं। (बताओ सब) हाथी कितने है ?"[4]

१५. शून्य-गणित

यह दिखाया जा चुका है कि ईसवी सन् के आरम्भ के लगभग भारतवर्ष में शून्य का आविष्कार किया गया था जिससे कि अंकों को दस के आधार पर लिखने

[1] लीलावती, पृ० १६।
[2] लीलावती, पृ० १६।
[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५५ (श्लो० ६०)। इस प्रश्न से निम्न समीकरण मिलता है:

$$\left(य - \frac{य^२}{१२ \times ३०}\right) - \frac{१ \times ३}{२० \times १६}\left(य - \frac{य^२}{१२ \times ३०}\right)^२ = २०,$$

जो इष्ट-कर्म से भी हल हो सकता है। महावीर ने $य - \frac{य^२}{१२ \times ३०} = र$ रक्खा है, और तब समीकरण $र - \frac{३}{३२०} र^२ = २०$ को हल किया है। इसके अनन्तर य के मान निकालने के लिए इस समीकरण के मूलों का प्रयोग किया जाता है।
[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५५ (श्लो० ६३)।

में सुविधा हो। हिन्दू मस्तिष्क को तब तक चैन नहीं मिला जब तक शून्य सम्बन्धी सम्पूर्ण गणित का विकास नहीं हो गया। शून्य को गणना हिन्दू लोग अंकों में करते थे और बक्षाली हस्तलिपि के मूल की रचना के समय (ल० ३०० ईसवी में) वे लोग अपनी अंकगणित में उसका प्रयोग करते थे। शून्य को जोड़ने और घटाने के परिकर्मों का उल्लेख प्रसंगवश वराहमिहिर (ल० ५५० ई०) की पंच-सिद्धान्तिका में हुआ है। दशमलव गणित का सर्वस्व भास्कर प्रथम (६२९ ई०) के आर्यभटीय-भाष्य में उपलब्ध है। शून्य परिकर्म के निष्कर्ष ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) तथा अन्य परवर्ती लेखकों की कृतियों में संगृहीत हैं। हिन्दुओं की अंकगणित में मिलने वाला शून्य-गणित का विवेचन उनके बीजगणित के विवेचन से भिन्न है। इस भेद को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए नीचे हम पाटीगणित (अंकगणित) और बीजगणित में मिलने वाले शून्य सम्बन्धी निष्कर्षों को अलग-अलग उपस्थित करेंगे।

अंकगणित में शून्य

अंकगणित में हिन्दुओं ने शून्य की परिभाषा इस प्रकार दी है :

$$अ - अ = ०$$

यह परिभाषा ब्रह्मगुप्त के ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त में मिलती है।[1] बाद के सब ग्रंथों में भी इसी को दोहराया गया है। घटाने में इस परिभाषा का सीधा प्रयोग होता है। अंकगणित के परिकर्मों को करने में यह जानना आवश्यक होता है कि किसी संख्या में शून्य को जोड़ने या घटाने से, अथवा शून्य में किसी संख्या को जोड़ने या घटाने से, अथवा शून्य को किसी संख्या से गुणा या भाग करने से, अथवा शून्य से किसी संख्या को गुणा या भाग करने से क्या परिणाम मिलता है। हिन्दू लोग अंक-गणित में शून्य द्वारा किये गये भाग को वैध नहीं मानते, परन्तु शून्य को किसी अन्य संख्या द्वारा किये गये भाग को वैध मानते हैं। नारायण ने अपनी पाटीगणित (अंकगणित) में इस भेद को स्पष्टतया बतलाया है। वे कहते हैं :

"यहाँ, पाटीगणित में, ख-हर का प्रयोग करने से लोक-व्यवहार में इसका प्रमाण

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० ३०९। शून्य-परिकर्म सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए देखिए, बिभूतिभूषण दत्त, बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसायटी, जिल्द १८, पृ० १६५-१७६।

नहीं माना जाता, अतएव यहाँ ख-हर का प्रयोग नहीं किया गया है। बीजगणित में इसका व्यवहार होने के कारण, हमने अपनी बीजगणित में ख-हर का कथन किया है।"[1]

नीचे हम पाटीगणित के हिन्दू ग्रंथों में बतलाये गये शून्य-परिकर्म सम्बन्धी निष्कर्षों को दे रहे है:

श्रीधर कहते हैं:

"यदि शून्य में किसी संख्या को जोड़ दें तो योगफल जोड़ी हुई संख्या के तुल्य मिलता है। यदि किसी संख्या में शून्य को जोड़ दे या घटा दें तो उस संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि शून्य को गुणा इत्यादि[2] करें तो फल शून्य ही मिलता है। यदि किसी संख्या को शून्य से गुणा करें तो भी गुणनफल शून्य ही मिलता है।"[3]

आर्यभट द्वितीय अपने महा-सिद्धान्त में पाटीगणित नामक अध्याय में लिखते है:

"यदि किसी संख्या में शून्य को जोड़ दें तो उस संख्या में कोई विकार नहीं होता; शून्य को घटाने पर भी यही बात होती है। शून्य को गुणा, भाग, वर्ग, इत्यादि करने पर फल शून्य मिलता है।"[4]

नारायण अपनी पाटीगणित में कहते है:

"यदि किसी संख्या में शून्य को जोड़ या घटा दे तो उस राशि में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि किसी राशि को शून्य से गुणा करें तो गुणनफल शून्य मिलता है, यदि शून्य को किसी संख्या से गुणा करें तो भी गुणनफल शून्य मिलता है। यदि शून्य में कोई संख्या जोड़ दें तो योगफल जोड़ी हुई संख्या के तुल्य आता है।"[5]

[1] गणित-कौमुदी, प्रकरण १, श्लो० ३० की टीका।

[2] इत्यादि से तात्पर्य है: (१) शून्य को किसी संख्या से भाग देने से, (२) शून्य का वर्ग करने या वर्गमूल निकालने से, और (३) शून्य का घन करने या घनमूल निकालने से, जो कि हिन्दू गणित के ग्रंथों में परिकर्म के कथन का क्रम है।

[3] त्रिशतिका, पृ० ४। ध्यान देने की बात है कि अ×० और ०×अ में भेद किया गया है, यद्यपि दोनों परिस्थितियों में गुणनफल शून्य है।

[4] महासिद्धान्त, पृ० १४६।

[5] गणित-कौमुदी, प्रकरण १, श्लो० ३०।

महावीर अपने गणित-सार-संग्रह में लिखते हैं :

"यदि किसी संख्या को शून्य से गुणा करें तो गुणनफल शून्य मिलता है। यदि किसी संख्या को शून्य से भाग दें या उसमें शून्य को जोड़ या घटा दें तो उस संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि शून्य को किसी संख्या से गुणा करें तो गुणनफल शून्य मिलता है, और यदि शून्य में कोई संख्या जोड़ दें तो योग जोड़ी हुई संख्या के तुल्य आता है।"[१]

महावीर का कथन कि शून्य से भाग देने पर भाग दी हुई संख्या में परिवर्तन नहीं होता है स्पष्टतया अशुद्ध है। इसका शुद्ध उत्तर महावीर से तीन शताब्दी पहले के गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त को विदित था। अतएव आश्चर्य की बात है कि महावीर ने इस प्रकार का अशुद्ध कथन किया है। संभव है कि जहाँ तक अंक-गणित का संबंध है वे शून्य द्वारा किये गये भाग को भाग ही न समझते हों।

बीजगणित में शून्य

बीजगणित में शून्य की चर्चा सबसे पहले ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त[२] (६२८ ई०) में मिलती है :

"ऋणात्मक संख्या मे शून्य घटाने पर शेष ऋणात्मक मिलता है; धनात्मक संख्या में शून्य घटाने पर शेष धनात्मक मिलता है; शून्य में शून्य घटाने पर शून्य मिलता है।"

"शून्य और ऋणात्मक संख्या, शून्य और धनात्मक संख्या, तथा शून्य और शून्य, प्रत्येक का गुणनफल शून्य है।"

"शून्य को शून्य से भाग देने का फल शून्य है। .... ऋणात्मक अथवा धनात्मक संख्या को शून्य से भाग देने का फल 'तच्छेद' (ऐसी भिन्न जिसका वही हर हो), शून्य को ऋणात्मक अथवा धनात्मक संख्या से भाग देने का (फल शून्य है अथवा वह भिन्न है जिसका अंश शून्य है और हर ऋणात्मक अथवा धनात्मक संख्या)।"[३]

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० ६ (श्लो० ४६)।

[२] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० ३०९-३१०, नियम ३१-३५। इन नियमों में धनात्मक और ऋणात्मक संख्याओं के परिकर्मों के नियम भी सम्मिलित हैं। यहाँ पर केवल शून्य सम्बन्धी नियमों का कथन किया गया है।

[३] परिकर्म का फल जो ब्रैकेट में दिया हुआ है सुधाकर द्विवेदी की व्याख्या के अनुसार है।

भास्कर द्वितीय ने लीलावती तथा अपनी बीजगणित में शून्य-परिकर्म संबन्धी निष्कर्षों का कथन किया है। लीलावती में वे लिखते हैं ;

"शून्य में किसी संख्या को जोड़ने पर योगफल जोड़ी हुई संख्या के तुल्य आता है। शून्य का वर्ग इत्यादि (अर्थात वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल) करने पर भी फल शून्य मिलता है। किसी संख्या को शून्य से भाग देने पर हर में शून्य हो जाता है। किसी संख्या को शून्य से गुणा करने पर गुणनफल शून्य होता है, परन्तु बाद में यदि और परिकर्म करने हैं तो (गुणनफल को शून्य न लेकर) शून्य को गुणक की तरह रखना चाहिए। यदि किसी संख्या का गुणक शून्य हो और हर भी शून्य हो तो समझना चाहिए कि उस संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार शून्य को जोड़ने या घटाने पर भी संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता।"[१]

बीजगणित में भी यही निष्कर्ष दिये गये हैं। साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि जब कोई राशि शून्य में घटायी जाती है तब उसका चिह्न बदल जाता है, परन्तु जोड़ने में चिह्न वही रहता है।

परमाल्प राशि के रूप में शून्य

ध्यान देने योग्य है कि परिकर्म $य \div ०$ और परिकर्म $० \div य$ के फलों को ब्रह्मगुप्त क्रमानुसार $\frac{य}{०}$ और $\frac{०}{य}$ की भाँति लिखने को कहते हैं। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि इन स्वरूपों से उनका क्या तात्पर्य था। सभव है कि चलराशि 'य' का मान न ज्ञात होने से उन्होंने इन स्वरूपों का निश्चित मान निर्धारित नही किया। फिर भी, प्रतीत होता है कि उन्होंने शून्य को ऐसी परमाल्प संख्या के रूप मे माना जो कि अन्ततोगत्वा शून्य में विलीन हो जाती है। यदि यह अनुमान सत्य हो, तो ब्रह्मगुप्त ने उक्त कथन करके उचित ही किया।

परमाल्प संख्या के रूप में शून्य की कल्पना भास्कर द्वितीय के ग्रंथों में अधिक स्पष्ट है। वे कहते हैं: "किसी संख्या को शून्य से गुणा करने पर गुणनफल शून्य होता है, परन्तु बाद में यदि और परिकर्म करने हैं तो (गुणनफल को शून्य न लेकर) शून्य को गुणक की तरह रखना चाहिए।" उन्होंने आगे कहा है कि यह परिकर्म ज्योतिष की गणना में अत्यन्त महत्व का है। कलन के अध्याय में दिखाया जायगा कि भास्कर द्वितीय ने ऐसी राशियों को वस्तुतः प्रयुक्त किया है जो

[१] लीलावती, पृ० ८।

अन्ततोगत्वा शून्य हो जाती हैं; कुछ फलनों के अवकल गुणकों का मान निकालने में भी वे सफल हुए है। उन्होंने फलन फ(य) के अवकल-गुणक फ'(य)δ(य) का भी प्रयोग किया है, जो कि 'य' में δ(य) के तुल्य क्षयवृद्धि होने से होता है।

टीकाकार कृष्ण ने

$$० \times अ = ० = अ \times ०$$

को इस प्रकार से सिद्ध किया है:

"जैसे-जैसे गुण्य कम किया जायगा, वैसे-वैसे गुणनफल भी कम होता जायगा। ...। यदि गुण्य को परमाल्प कर दिया जाय, तो गुणनफल भी परमाल्प हो जायगा। परन्तु परमाल्प होने का अर्थ शून्य होना है, अतएव यदि गुण्य शून्य हो, तो गुणनफल भी शून्य होगा।.....। इसी प्रकार, जैसे-जैसे गुणक कम किया जायगा, वैसे-वैसे गुणनफल भी कम होता जायगा; और गुणक के शून्य हो जाने पर, गुणनफल भी शून्य हो जायगा।"

उपर्युक्त अवतरण में शून्य को अवरोही राशि की सीमा के रूप में कल्पित किया गया है।

अनन्त

किसी संख्या को शून्य से भाग देने पर जो लब्धि मिलती है, उसे भास्कर द्वितीय ने 'ख-हर' कहा है, जो कि ब्रह्मगुप्त के 'खच्छेद' ('वह राशि जिसका हर शून्य है') का पर्यायवाचक है। ख-हर के मान के विषय में भास्कर द्वितीय कहते हैं:

"जिस प्रकार अनन्त और अच्युत ईश्वर में, प्रलय के समय बहुत से भूतगणों का प्रवेश होने से अथवा सृष्टि से समय उनके निकल जाने से, कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार इस शून्य हर वाली (ख-हर) राशि में बहुत (बड़ी संख्या को) भी जोड़ने अथवा घटाने पर कोई परिवर्तन नही होता।"[1]

[1] भास्करीय बीजगणित, पृ० ५-६। जी० थीबो (एस्ट्रानॉमी, ऐस्ट्रालॉजी उण्ड माथेमाटिक, स्ट्रासबर्ग १८९९, पृ० ७३) के मत से यह अवतरण क्षेपक है। परन्तु इसे क्षेपक मानने का कोई कारण नहीं है क्योंकि यह अवतरण उस ग्रंथ की अब तक प्राप्त होने वाली सब हस्तलिपियों में तथा उस ग्रंथ की प्राचीनतम ज्ञात टीका में विद्यमान है। देखिए दत्त, पूर्वोक्त, पृ० १७४।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भास्कर द्वितीय को ज्ञात था कि

$$\frac{अ}{०} = ∞, \text{ और } ∞ + क = ∞ ।$$

गणेशदैवज्ञ के अनुसार ख-हर राशि $\frac{अ}{०}$ अनिर्णीत और निःसीम अर्थात् अनन्त है; क्योंकि "यह नहीं कहा जा सकता कि यह कितनी बड़ी है। यदि इस राशि में कोई परिमित संख्या जोड़ या घटा दी जाय तो इसमें कोई परिवर्तन नही होता। कारण यह है कि (जोड़ने या घटाने में) उनका समच्छेद करने के लिए एक दूसरे के हर से गुणा करने पर नियत राशि शून्य हो जाती है और उस शून्य को खहर में जोड़ने या घटाने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।"

कृष्णदैवज्ञ लिखते है:

"जैसे-जैसे भाजक घटता जाता है, वैसे-वैसे लब्धि बढती जाती है। यदि भाजक परमाल्प हो जाय, तो लब्धि परमाधिक हो जायगी। परन्तु यदि यह कहा जा सके कि लब्धि इतनी है तो वह परमाधिक नही है, क्योंकि उससे भी बड़ी संख्या होना सम्भव है। लब्धि का इयत्ताभाव ('इतनी होने' का अभाव) ही उसका परमत्व है। अतएव सिद्ध हुआ कि शून्य हर वाली राशि अनन्त है।"

$\frac{अ}{०} + क = \frac{अ}{८}$ की उपपत्ति के सम्बन्ध में कृष्णदैवज्ञ का वही कथन है जो गणेश-दैवज्ञ ने किया है। परन्तु वे उनसे एक पग आगे बढ़ गये है, क्योंकि वे लिखते है कि

$$\frac{अ}{०} = \frac{ब}{०}$$

इस कथन की पुष्टि में उन्होंने सूर्योदय और सूर्यास्तकाल की अनन्त छाया का दृष्टांत दिया है, जो कि सदैव अनन्त रहती है चाहे शंकु की ऊँचाई और त्रिज्या की लम्बाई का मान कितना ही बड़ा क्यों न लिया जाय। "....उदाहरणार्थ, यदि त्रिज्या =१२० ली जाय और शंकु की ऊँचाई =१, २, ३ या ४ ली जाय, तो त्रैराशिक करने पर कि 'यदि महाशंकु में महाच्छाया मिलती है, तो शंकु में क्या मिलेगा?' छाया का मान क्रमशः $\frac{१२०}{०}$, $\frac{२४०}{०}$, $\frac{३६०}{०}$ अथवा $\frac{४८०}{०}$ मिलता है। अथवा यदि शंकु का प्रचलित मान, अर्थात् १२ अंगुल, लिया जाय और त्रिज्या को ३४३८, १२०, १०० अथवा

९० के तुल्य माना जाय तो छाया के मान क्रमशः $\frac{४१२५६,}{०}$ $\frac{१४४०,}{०}$ $\frac{१२००,}{०}$

अथवा $\frac{१०८०}{०}$ प्राप्त होंगे, जो सभी अनन्त है।"[१]

अनिर्णीत स्वरूप

ब्रह्मगुप्त का यह कथन अशुद्ध है कि

$$\frac{०}{०} = ०.$$

भास्कर द्वितीय ने ब्रह्मगुप्त की इस अशुद्धि को शुद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार

$$\underset{त \to ०}{\text{सीमा}} \quad \frac{अ \times त}{त} = अ।$$

तथापि इसे व्यक्त करने में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह दोषपूर्ण है; क्योंकि उपयुक्त पारिभाषिक शब्द के अभाव के कारण उन्होंने परमाल्प राशि को शून्य कहा है। फिर भी ज्योतिष में इस निष्कर्ष का उन्होने जो प्रयोग किया है उससे बिल्कुल स्पष्ट है कि शून्य से उनका तात्पर्य उस छोटी राशि से है जिसका सीमान्तिक मान शून्य है। टेलर[२] और बापूदेव शास्त्री[३] का भी यही मत है।

भास्कर द्वितीय ने इस सम्बन्ध मे तीन उदाहरण उपस्थित किये है:

मान निकालो –

$$(१) \quad \frac{३\left(य \times ०+ \frac{य \times ०}{२}\right)}{०} = ६३।$$

इस समीकरण का हल य=१४ दिया गया है, जो कि उस परिस्थिति में शुद्ध होगा, जबकि हम ० को ऐसी छोटी संख्या कल्पना करे जिसकी सीमा ० हो।

[१] उपर्युक्त सब उद्धरण उन टीकाओं से लिये गये हैं। कोलब्रुक (पूर्वोक्त ग्रंथ) ने भी उन्हें उद्धृत किया है।

[२] टेलर की लीलावती, बम्बई १८१६, पृ० २९।

[३] उनका बीजगणित, भाग १, बनारस, १८७५, पृ० १७९ आदि।

(२) $\left\{\left(\frac{य}{०}+य-९\right)^{२}+\left(\frac{य}{०}+य-९\right)\right\}\times ०=९०,$

जिसका हल य=९ दिया गया है।

(३) $\left[\left\{\left(य+\frac{य}{२}\right)\times ०\right\}^{२}+२\left\{\left(य+\frac{य}{२}\right)\times ०\right\}\right]\div ०=१५,$

जिसका हल य=२ दिया गया है।[१]

भास्कर द्वितीय का कथन कि

$$\frac{अ}{०}\times ०=अ,$$

बिल्कुल शुद्ध नहीं है, क्योंकि यह स्वरूप वस्तुतः अनिर्णीत है और इसका मान सदैव अ नहीं होगा। परन्तु तो भी इतने प्राचीन काल में ० को एक अर्थ देने का उनका प्रयत्न तथा इस प्रश्न का उनका आंशिक हल अत्यन्त सराहनीय है, जबकि हम देखते हैं कि यूरोप के गणितज्ञों ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक इस प्रकार की अशुद्धियाँ की है।[२]

---

[१] इस उदाहरण और पिछले उदाहरण के हल अशुद्ध हैं, क्योंकि $०^{२}$ को ० के बराबर मान लिया गया है।

[२] मार्टिन ओह्म (१८२८ ई०) का कथन है: "यदि 'अ' शून्य न हो, परन्तु 'ब' शून्य हो, तो $\frac{अ}{ब}$ का कोई अर्थ नहीं है", क्योंकि लब्धि को "शून्य से गुणा करने पर गुणनफल शून्य ही होगा न कि 'अ', जब तक कि 'अ' स्वयं शून्य न हो।" लेरबुख डेर् नीडेर्न अनालिसिस (जर्मन में), जिल्द १, बर्लिन, १८२८, पृ० ११०, ११२।

ग्रन्थानुक्रमणिका

१ **अथर्व ज्योतिष** भगवद्दत्त द्वारा संपादित, लाहौर, १९२४।

२ **आपस्तंब-शुल्ब-सूत्र** आपस्तंब (ल० ४०० ई० पू०) कृत। कपर्दिस्वामि, करविन्द, तथा सुन्दरराज कृत टीकाओं सहित, डी० श्रीनिवासाचार्य और वी० एस० नरसिहाचार्य द्वारा संपादित, यूनिवर्सिटी ऑव मैसूर संस्कृत ग्रंथावलि में प्रकाशित, १९३१; ए० ब्युर्क कृत जर्मन अनुवाद, व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों के सहित, जाइट्श्रिफ्ट डेर डाय्शेन मौरगेन्लेंडिशेन् गेसेल्शाफ्ट, जिल्द ५५, १९०२, पृ० ५४३-५९१; जिल्द ५६, १९०३, पृ० ३२७-३९१ में प्रकाशित।

३ **आर्च ज्योतिष** सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्वविरचित टीका के साथ प्रकाशित, बनारस, १९०६।

४ **आर्यभटीय** आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) कृत। परमेश्वर (१४३० ई०) कृत भटदीपिका टीका सहित, एच० कर्न द्वारा संपादित, लैदन, १८७४; हिन्दी अनुवाद सहित, उदय नारायण सिंह द्वारा संपादित, मुजफ्फर-पुर, १९०६; नीलकंठ (१५०० ई०) कृत महाभाष्य नामक टीका सहित, के० साम्बशिव शास्त्री द्वारा संपादित (भाग १, गणित-पाद, त्रिवेन्द्रम, १९३०; भाग २, कालक्रियापाद, त्रिवेन्द्रम, १९३१; भाग ३, मुद्रणालयस्थ)। अंगरेजी अनुवाद: पी० सी० सेनगुप्त कृत ("दि आर्यभटीयम्", जर्नल ऑव दि डिपार्टमेण्ट आव लेटर्स इन दि यूनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, जिल्द १६, १९२७); डब्ल्यू० ई० क्लार्क कृत ("दि आर्यभटीय ऑव आर्यभट", शिकागो, १९३०)। गणित-पाद नामक द्वितीय अध्याय का फ्रेंच अनुवाद: एल० रोड कृत (जर्नल एशियाटिक, जिल्द १३ (७), १८७८; पुनर्मुद्रित, पेरिस, १८७९); और अंगरेजी अनुवाद जी० आर० के कृत ("नोट्स

ऑन इंडियन मैथेमेटिक्स, नं० २—आर्यभट", जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, जिल्द ४, १९०८)। हस्तलिखित टीकाएँ: (१) भास्कर प्रथम (६२९ ई०) कृत; (२) सूर्यदेव यज्वा (१२ वीं शताब्दी) कृत भटप्रकाशिका।

५ **करण-कुतूहल** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। सुमति हर्ष कृत टीका सहित, माधव शास्त्री द्वारा संपादित, बम्बई, १९०१।

६ **करण-पद्धति** पुतुमन सोमयाजि (१४३१ ई०) कृत। (हस्तलिपि)

७ **कात्यायन-शुल्ब-सूत्र** कात्यायन (ल. ४०० ई० पू०) कृत। व्याख्यात्मक टिप्पणियों सहित, विद्याधर शर्मा द्वारा संपादित, बनारस, १९२८।

८ **खण्ड-खाद्यक** ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) कृत। आमराज (ल० १२५० ई०) कृत टीका सहित, बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता, १९२५। अंगरेजी अनुवाद, व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित, पी० सी० सेनगुप्त द्वारा संपादित, कलकत्ता, १९३४। हस्तलिखित टीकाएँ: (१) पृथूदकस्वामी (८६४ ई०) कृत; (२) वरुण कृत; (३) भट्टोत्पल कृत।

९ **गणित-कौमुदी** नारायण (१३५६ ई०) कृत। (हस्तलिपि)

१० **गणित-तिलक** श्रीपति (१०३९ ई०) कृत। सिंहतिलक सूरि (ल. १२७५ ई०) कृत टीका सहित, एच० आर० कापदीआ द्वारा संपादित (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज नं० ७८, बड़ोदा, १९३७)।

११ **गणित-मंजरी** ढुंढिराज (१५५८ ई०) सुत गणेश कृत। (हस्तलिपि)

१२ **गणित-सार-संग्रह** महावीर (८५० ई०) कृत। अँगरेजी अनुवाद और टिप्पणियों सहित, एम० रंगाचार्य द्वारा संपादित, मद्रास, १९१२।

१३ **ग्रहलाघव** गणेशदैवज्ञ (ल.१५४५ ई०) कृत। मल्लारि, विश्वनाथ, तथा स्वविरचित टीकाओं सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, द्वितीयावृत्ति, बम्बई, १९२५।

१४ **तंत्र-संग्रह** नीलकंठ (१५०० ई०) कृत। संस्कृत टीका, हस्तलिखित।

१५ **त्रिशतिका** श्रीधर (७५० ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, बनारस, १८९९। एन० रामानुजाचार्य और जी० आर० के ने

मूल के प्रमुख सूत्रों का अंगरेजी अनुवाद, टिप्पणियों तथा आलोचनाओं के साथ प्रकाशित किया है ('त्रिशतिका ऑव श्रीधराचार्य', बिब्लियोथेका मैथेमेटिका, जिल्द १३ (३), १९१२-१३, पृ० २०३ इत्यादि) द्विवेदी के संस्करण का पाठ स्पष्टतः अपूर्ण है। हमारे संग्रह की हस्तलिपियों मे, पद्यपि वे अपूर्ण है, सूत्रों और उदाहरणों की संख्या कुछ अधिक है।

१६ **ध्यानग्रहोपदेश** ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित तथा उनके ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त मे परिशिष्ट के रूप मे प्रकाशित।

१७ **पंच-सिद्धान्तिका** वराहमिहिर (ल. ५५० ई०) कृत। संस्कृत टीका, अंगरेजी अनुवाद और आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित, जी० थीबो और सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, बनारस, १८८९।

१८ **पाटीसार** मुनीश्वर (जन्म १६०३ ई०) कृत। (हस्तलिपि)

१९ **बक्षाली हस्तलिपि**, जी० आर० के द्वारा संपादित, (बक्षाली मैन्युस्क्रिप्ट-ए स्टडी इन मेडीवल मैथेमेटिक्स, भाग १ और २, कलकत्ता, १९२७; भाग ३, दिल्ली, १९३३)।

२० **बीजगणित** ज्ञानराज (१५०३ ई०) कृत। हस्तलिपि।

२१ **बीजगणित** नारायण (१३५० ई०) कृत। हस्तलिपि।

२२ **बीजगणित** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित और मुरलीधर झा द्वारा संशोधित, बनारस, १९२७; कृष्णदैवज्ञ (ल. १६०० ई०) कृत नवाकुर टीका सहित, वी० जी० आपटे द्वारा संपादित (आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, पूना १९३०)। एच० टी० कोलब्रुक कृत अँगरेजी अनुवाद ('अलजबरा विद अरिथमेटिक एण्ड मेन्श्यूरेशन फ्राम दि संस्कृत ऑव ब्रह्मगुप्त एण्ड भास्कर', लंदन, १८१७)। अन्य टीकाओं की हस्तलिपियाँ: (१) रामकृष्ण (ल. १६४८ ई०) कृत बीजप्रबोध; (२) सूर्यदास (जन्म १५०८ ई०) कृत।

इस पुस्तक में भास्कर द्वितीय की बीजगणित के उल्लेख मुरलीधर झा के संशोधित संस्करण से दिये गये है।

२३ **बृहज्जातक** वराहमिहिर (ल. ५५० ई०) कृत। भट्टोत्पल (१९६६ ई०) की टीका सहित, रसिक मोहन चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित,

कलकत्ता, १३०० विक्रमी ; सीताराम झा द्वारा संपादित, बनारस, १९२२।

२४ **बृहत्संहिता** वराहमिहिर (ल. ५५० ई०) कृत। एच० कर्न द्वारा संपादित कलकत्ता, १८६५; भट्टोत्पल कृत टीका सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित (विजयानगरम संस्कृत ग्रथावलि, जिल्द १ और २, बनारस, १८९५, १८९७)। अंगरेजी अनुवाद, एच० कर्न कृत (उनके ग्रंथों का संग्रह देखो)।

२५ **ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त** ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा अपनी संस्कृत टीका के साथ संपादित, बनारस, १९०२। अध्याय १२ और १३ का, जो केवल अंकगणित और बीजगणित से संबन्ध रखते हैं, एच० टी० कोलब्रुक ने अंगरेजी मे अनुवाद किया है (अलजेबरा विद अरिथमेटिक एण्ड मेन्श्यूरेशन इत्यादि)। पृथूदक स्वामि (८६० ई०) कृत टीका, हस्तलिखित (अपूर्ण)।

२६ **बौधायन-शुल्ब-सूत्र** बौधायन (ल. ८०० ई० पू०) कृत। अंगरेजी अनुवाद, आलोचनात्मक टिप्पणियों तथा द्वारकानाथ यज्वा कृत टीका के उद्धरणों के सहित, जी० थीबो द्वारा संपादित (पंडित, प्राचीन श्रेणी, जिल्द ९ और १०, १८७४-५; नवीन श्रेणी, जिल्द १, १८७७) । इस ग्रंथ का मूल डब्ल्यू० कैलेण्ड के बौधायन-शुल्ब-सूत्र (तीन जिल्दों में, कलकत्ता, १९०४, १९०७, १९१३) में (३० वें अध्याय के रूप में) उपलब्ध है।

२७ **महाभास्करीय** भास्कर प्रथम (६२९ ई०) कृत। हस्तलिखित टीकायें: (१) प्रयोग-रचना; (२) परमेश्वर (१४३०ई०) कृत।

२८ **महासिद्धान्त** आर्यभट द्वितीय (ल० ९५० ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्वविरचित टीका के साथ संपादित, बनारस, १९१०।

२९ **मानव-शुल्ब-सूत्र** मनुप्रणीत, हस्तलिखित। अँगरेजी अनुवाद एन० के० मजूमदार कृत (जर्नल आव दि डिपार्टमेन्ट ऑव लेटर्स इन दि यूनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता; जिल्द ८, १९२२ में प्रकाशित)।

३० **लघुभास्करीय** भास्कर प्रथम (६२९ ई०) कृत। शंकरनारायण (८६९ ई०) कृत टीका, हस्तलिखित।

३१ **लघुमानस** मञ्जुल (९३२ ई०) कृत। परमेश्वर (१४३० ई०) की टीका, हस्तलिखित।

२ **लीलावती** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। टिप्पणियों सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, बनारस, १९१०। अँगरेजी अनुवाद: एच० टी० कोलब्रुक कृत (अलजेबरा विद अरिथमेटिक ऐण्ड मेन्स्यूरेशन इत्यादि); जे० टेलर कृत (लीलावती, बम्बई, १८१६)। कोलब्रुक के अनुवाद को हाराणचन्द्र बनर्जी ने आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ पुनः संपादित किया है (लीलावती, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९२७)। हस्तलिखित टीकाएँ: गणेशदैवज्ञ (१५४५ ई०) कृत बुद्धि-विलासिनी; (२) गंगाधर (१४३२ ई०) कृत गणितामृतसागरी; (३) रामकृष्ण (१३३९ ई०) कृत गणितामृतलहरी; (४) रामकृष्णदेव कृत मनोरंजन; (५) सूर्यदास (१५४१ ई०) कृत गणितामृतकूपिका; (६) लक्ष्मीदास (१५०० ई०) कृत चिन्तामणि; (७) मुनीश्वर (१६०८ ई०) कृत निसृष्टदूती।
इस पुस्तक में लीलावती के उल्लेख द्विवेदी के संस्करण से दिये गये है।

३३ **शिष्य-धी-वृद्धिद** लल्ल कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, बनारस, १८८६। मल्लिकार्जुन सूरि (११७९ ई०) कृत टीका; हस्तलिखित।

३४ **सद्रत्नमाला** शकरवर्मन् कृत। (हस्तलिपि)

३५ **सिद्धान्त-तत्व-विवेक** कमलाकर (१६५८) कृत। ग्रंथकार कृत शेषवासना सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, बनारस, १८८५।

३६ **सिद्धान्त-शिरोमणि** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। ग्रंथकार कृत टीका (वासना-भाष्य) सहित, बापूदेव शास्त्री द्वारा संपादित, बनारस, १८६६; नृसिंह (१६२१ ई०) कृत वासनावार्तिक और मुनीश्वर (१६३५ ई०) कृत मरीचि टीकाओं सहित, मुरलीधर झा द्वारा संपादित (जिल्द १, गणिताध्याय, अध्याय १, बनारस, १९१७); स्वविरचित संस्कृत और हिन्दी टीकाओं सहित, गिरिजा-प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित, जिल्द १ और २ (लखनऊ, १९११,

१९२६)। गोलाध्याय के मूल श्लोकों का अँगरेजी अनुवाद, एल० विल्किंसन कृत, कलकत्ता, १८६१।

३७ **सिद्धान्तशेखर** श्रीपति (१०३९ ई०) कृत। मक्किभट्ट की टीका (अध्याय १ से ४) तथा बबुआ मिश्र की टीका (अध्याय ४ से १०) सहित, बबुआ मिश्र द्वारा संपादित (भाग १, कलकत्ता, १९३२)।

३८ **सूर्य-सिद्धान्त** रंगनाथ की संस्कृत टीका सहित, एफ० ई० हाल और बापूदेव शास्त्री द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८९१; सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्वविरचित संस्कृत टीका के साथ संपादित, कलकत्ता, १९०९-१०। अंगरेजी अनुवाद तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित, ई० बर्जेस और डब्ल्यू डी० ह्विटनी द्वारा संपादित; बंगला अनुवाद तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित, विज्ञानानन्द स्वामी द्वारा संपादित।